बहुवचन

हिंदी की अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका

सम्पादक

अशोक मिश्र

सहायक सम्पादक

अमित कुमार विश्वास

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा का प्रकाशन

बहुवचन
अंतरराष्ट्रीय हिंदी त्रैमासिक
अंक: 33-34 संयुक्तांक (अप्रैल-जून, जुलाई-सितम्बर,2012)

प्रकाशक: महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा

आवरण: शमशेर बहादुर सिंह

सम्पादकीय संपर्क
सम्पादक 'बहुवचन'
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र)
चलितवार्ता संपादक- 09422386554, ईमेल- amishrafaiz@gmail.com
सहायक संपादक- 09970244359, ईमेल- amitbishwas2004@gmail.com

प्रकाशन प्रभारी : डॉ. बीर पाल सिंह यादव
E-mail: bpsjnu@gmail.com फोन: 07152-232943, मो. 08055290240

© सम्बन्धित लेखकों एवं रचनाकारों द्वारा सुरक्षित
प्रकाशित रचनाओं की रीति-नीति या विचारों से महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा या सम्पादकों की सहमति अनिवार्य नहीं है।

प्रचार प्रसार एवं कम्पोजिंग: रामप्रसाद कुमरे
email: ram.kumre81@gmail.com
फोन : 07152-232943, मो. नं. 08055916194, 09406546762

बिक्री और प्रसार कार्यालय
प्रकाशन विभाग, **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय**
गांधी हिल्स, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत
फोनः 07152-230901, फैक्स: 07152-230903 तारः हिन्दीविश्व

वार्षिक सदस्यता के लिए बैंक ड्राफ्ट **महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा** के नाम से इस पते पर भेजें। मनीऑर्डर स्वीकार्य नहीं। पत्रिका का वितरण अब दिल्ली से होता है। पत्रिका न मिलने की शिकायत रूचिका प्रिंटर्स, 10295, लेन नं. 1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032 (मो. 09212796256) पर करें।
प्रकाशन विभाग, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा- 442005 (महाराष्ट्र) भारत

पंजीयन सं.: DELHIN/2000/1228

यह अंक: 50 रुपये, वार्षिक शुल्क 200 रुपये
विदेश में: हवाई डाक: एक प्रति 15 अमेरिकी डॉलर/7 ब्रिटिश पाउंड
समुद्री डाक: एक प्रति 8 डॉलर/5 ब्रिटिश पाउंड

BAHUVACHAN
A QUARTERLY INTERNATIONAL JOURNAL IN HINDI
PUBLISHED BY: MAHATMA GANDHI INTERNATIONAL HINDI UNIVERSITY
GANDHI HILLS, WARDHA-442005 (MAHARASHTRA) INDIA.

मुद्रकः रुचिका प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-110032 (फोनः 011-22821174, 9212796256)
E-mail: ruchikaprinters2005@gmail.com

अनुक्रम

आरंभिक / 05

वैचारिकी

विकास: जल-जंगल-जमीन और विस्थापन
राकेश कुमार सिंह **08**

धर्म निरपेक्षता की परिधि
रघुवंशमणि 16

तुलसी काव्य में दलित विमर्श
श्रीभगवान सिंह **23**

बिहार में बगावत और कुंअर सिंह
कुमार नरेन्द्र सिंह **43**

नगर बनाम ग्राम आधुनिकता और परम्परा का अंतर्द्वंद्व
डॉ. ऋषिकेश राय **57**

संवाद

'मुक्तिबोध ने हिंदी कविता की संरचना और विचार को तोड़ दिया था'
नरेश सक्सेना से उमांकत की बातचीत **72**

कहानी

थोड़ा सा प्रगतिशील
ममता कालिया **88**

संस्मरण

मेरा वीआईपी मेहमान
हृदयेश **94**

यात्रा वृतांत

कचाल और सहस्त्राब्दी का बाल-सूर्य
सुधीर सक्सेना **109**

डायरी

बहुत उदास है महादेवी की जन्मस्थली
सुधीर विद्यार्थी **114**

तुम्हें बहादुर बीवी बनना है
प्रगट सिंह **129**

कविताएँ

इकबाल कृत गायत्री के उर्दू अनुवाद का हिंदी रूपांतर
शमशेर बहादुर सिंह **131**
ओम भारती **132**
उमाशंकर चौधरी **139**

बात बोलेगी
संजीव **148**
रामविलास शर्मा की स्क्रैप बुक्स-1 **152**
विजय मोहन शर्मा

मीडिया

नई आर्थिकी, कारपोरेट कल्चर और मीडिया **162**
उमेश चतुर्वेदी

पुनर्पाठ

भारत माता का मैला आँचल **168**
भारत यायावर

यादगार कृति

माटी मानस से रची महागाथा **181**
नित्यानंद तिवारी

आलोचना

नामवर होने का अर्थ: आलोचना का वटवृक्ष **187**
स्वप्निल श्रीवास्तव

आरंभिक

'बहुवचन' का नया ३३-३४वां संयुक्त अंक आपके हाथों में है। इस पत्रिका का संपादन समय-समय पर सुयोग्य संपादक करते रहे हैं। थोड़ा विलंब से प्रकाशित हो रहे बहुवचन के अंक को समयबद्ध करने के लिए यह अंक संयुक्त रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान अंक से पाठकों को पत्रिका की सामग्री में कुछ-कुछ परिवर्तन देखने को मिलेगा।

बहुवचन के नये अंक में विविधता के मद्देनजर आदिवासियों, धर्मनिरपेक्षता और उदारीकरण के बाद के हालात केंद्रीय मुद्दे हैं। देश के सर्वाधिक ज्वलंत मुद्दों में से एक आदिवासियों की जिंदगी की सच्चाई पर केंद्रित राकेश कुमार सिंह का लेख विकास जल, जंगल, जमीन और विस्थापन प्रकाशित किया जा रहा है जो कि उस इलाके की पड़ताल कर लिखा गया है। लेख आदिवासियों के साथ-साथ विकास के चमकीले यथार्थ को भी सामने रखता है। धर्म निरपेक्षता के सवाल पर रघुवंश मणि गहराई के साथ और नगर बनाम ग्राम आधुनिकता और पंरपरा का अंतर्द्वद पर ऋषिकेश राय के लेख नया नजरिया प्रस्तुत करते हैं। तुलसी काव्य में दलित विमर्श पर प्रकाश डाल रहे हैं श्रीभगवान सिंह, जो कि एक नयी खोज के साथ सामने आते हैं। श्रीभगवान सिंह का लेख एक नयी बहस का विषय बन सकता है। बिहार में १८५७ की क्रांति के प्रमुख सूत्रधार रहे कुंअर सिंह पर कुमार नरेन्द्र सिंह का लेख इतिहास के पुराने पन्नों की दास्तां कहता है। कथा खंड में प्रख्यात कथाकार ममता कालिया की कहानी थोड़ा सा प्रगतिशील आज के युवकों के नजरिये को व्यक्त करने के लिए काफी है। वरिष्ठ कथाकार ह्रदयेश का संस्मरण मेरा वीआईपी मेहमान, सुधीर सक्सेना का कचाल द्वीप का यात्रा वृतांत और सुधीर विद्यार्थी, प्रगट सिंह की डायरी के अंश अंक के अन्य आकर्षण हैं। इकबाल-कृत गायत्री का शमशेर बहादुर सिंह द्वारा किया गया हिंदी रूपान्तर दिया जा रहा है। शमशेर बहादुर सिंह सिर्फ कवि या अनुवादक ही नहीं थे बल्कि वे अच्छे चित्रकार भी थे। बहुवचन के पाठकों के लिए उपहार के तौर पर सभी चार कवर पेज पर उनकी बनाई पेंटिंग्स दी जा रही हैं। कविता खंड में प्रख्यात कवि ओम भारती और युवा कवि उमाशंकर चौधरी की कविताएं हैं। यह मार्क्सवादी आलोचक रामविलास शर्मा का जन्म शताब्दी

वर्ष है इसलिए हम अपने पाठकों के लिए उनकी स्क्रैप बुक्स की पहली किश्त प्रकाशित कर रहे हैं। हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि नरेश सक्सेना से बातचीत की है शोधार्थी उमाकांत ने। समर्थ कथाकार संजीव के कॉलम "बात बोलेगी" में लेखक की दुनिया का सच सामने आता है। नए यादगार कृति कॉलम में किसी स्मरणीय और स्मृति में अटक जाने वाली किताब की विशेषताओं पर हर अंक में प्रकाश डालेंगे महत्वपूर्ण कथाकार आलोचक। यादगार कृति में इस बार हरिसुमन विष्ट के उपन्यास आछरी माछरी पर प्रस्तुत है नित्यानंद तिवारी की टिप्पणी। पुरानी और महत्वपूर्ण कृतियों की पड़ताल पुनर्पाठ कॉलम के अंतर्गत की जाएगी, जिसमें पहली बार मैला आंचल की चर्चा कर रहे हैं रेणु साहित्य के मर्मज्ञ भारत यायावर। वरिष्ठ आलोचक नामवर सिंह पर प्रकाशित आत्मकथात्मक पुस्तक 'नामवर होने का अर्थ' पर एक पाठक के नजरिये से टिप्पणी कर रहे हैं कवि स्वप्निल श्रीवास्तव। मीडिया की बदलती चिंताओं को रेखांकित किया है पत्रकार उमेश चतुर्वेदी ने।

पिछले दिनों एक-एक करके हिंदी के कई साहित्यकार हमारे बीच नहीं रहे। पहले वरिष्ठ कवि भगवत रावत और उसके बाद कथाकार अरुण प्रकाश का जाना मन को कहीं न कहीं से रीता कर गया। अरुण प्रकाश से संपर्क कर बहुवचन के लिए रचना प्राप्त करने की सारी कोशिशें बेमानी साबित हुईं। बुजुर्ग कवि भगवत रावत से कुछ पहले बहुवचन के लिए कविताएं भेजने का निवेदन भी किया था और उन्होंने वादा भी किया मगर विधि की विडंबना कि बीमारी के कारण ऐसा न हो सका। २७ जून को अचानक फेसबुक पर सक्रिय लघुकथाकार मित्र बलराम अग्रवाल के माध्यम से सूचना मिली कि एक दिन पहले ही अमर गोस्वामी नहीं रहे। इसी के साथ आंखों में किसी रील की मानिंद अमर गोस्वामी से हुई कई मुलाकातें और बिताए गये यादगार पल किसी फिल्म की भांति घुमड़-घुमड़ कर एक के बाद एक आने लगे। सादगी भरे व्यक्तित्व के स्वामी अमर गोस्वामी अक्सर खामोश रहा करते थे, मगर जिससे उनके आत्मीय रिश्ते होते थे उससे वे खूब बतियाते थे। वे हिंदी के अच्छे कथाकारों में से एक थे। उनके ग्यारह कहानी संग्रह प्रकाशित हुए जिसमें हिमायती, महुए का पेड़, अरण्य में हम, उदास राधोदास, कल का भरोसा अपनी-अपनी दुनिया आदि उनकी प्रमुख कथा कृतियां हैं। उन्होंने बच्चों के लिए भी खूब लिखा। अमर गोस्वामी लघुकथाएं भी लिखते थे। दरअसल हिंदी पत्रकारिता की दुनिया में साहित्य से जुड़े जितने भी बड़े नाम

आए न तो उन्हें सम्मान मिला न ही गुजारा करने लायक अच्छा वेतन, ऊपर से पचास की उम्र के बाद बहुतों को अपना रोजगार गंवाना पड़ा। मनोरमा, गंगा, आब्जर्वर से जुड़े अमर गोस्वामी के साथ अक्षर भारत साप्ताहिक के बंद होने के बाद यही हुआ। हालांकि अमर गोस्वामी कुछ समय के लिए नया ज्ञानोदय के आरंभ में भारतीय ज्ञानपीठ से भी जुड़े रहे। बाद में रेमाधव पब्लिकेशन्स में संपादक पद पर जीवन के अंतिम क्षण तक काम करते रहे। अमर गोस्वामी बांग्ला और हिंदी को एक दूसरे के करीब लाने के लिए सेतु बनाने का काम किया और साठ से अधिक कृतियों का बांग्ला से हिंदी में अनुवाद किया। मुझे अच्छी तरह याद है कि वर्ष २००३ के दौरान जब मैं फ्रीलांसर के रूप में काम कर रहा था उसी समय अमर गोस्वामी से भारतीय ज्ञानपीठ कार्यालय और साहित्यिक कार्यक्रमों में कई मुलाकातें हुईं। वे पत्रकारिता में अच्छा काम करने वालों की कद्र न किये जाने पर भी काफी दु:खी रहा करते थे। इधर दो बरसों के दौरान वे नहीं मिले और अब तो स्मृतियों में ही रह गये हैं अमर गोस्वामी।

प्रख्यात कथाकार और महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय वर्धा के कुलपति विभूति नारायण राय ने जिस विश्वास के साथ मेरे कंधों पर बहुवचन के संपादन का महत्तर दायित्व सौंपा है मेरी कोशिश होगी कि उसे मैं अपनी क्षमता और ईमानदारी के साथ पूरा कर उनके विश्वास पर शत प्रतिशत खरा उतर सकूं। पत्रिका की सामग्री कंपोजिंग करने में टाइपिस्ट रामप्रसाद कुमरे ने बड़े ही श्रम के साथ काम किया है उनके प्रति आभार। विजय मोहन सिंह ने मुझे जो संपादकीय टिप्स दीं और कथाकार संजीव ने मुझे समय-समय पर जो सुझाव दिये उनके प्रति आभार ज्ञापन महज औपचारिकता होगी।

और अंत में आपकी प्रतिक्रियाएं ही बताएंगी कि हम अपने उद्देश्यों में कहां तक सफल रहे हैं। अंक प्रेस में जाते-जाते खबर मिली है कि रायबरेली के नवगीतकार और **नये पुराने** पत्रिका के संपादक दिनेश सिंह नहीं रहे। इस बीच दिवंगत सभी साहित्यकारों को महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय और बहुवचन परिवार की भावभीनी श्रद्धांजलि।

अशोक मिश्र

विकास: जल-जंगल-जमीन और विस्थापन

राकेश कुमार सिंह

अविकसित क्षेत्रों को विकसित बनाने के धोखे में विकास के अग्रदूतों ने आस्ट्रेलियाई मूल के "एफ्रोनिग्राइट्स" और "रेड इंडियन" प्रजाति का समूल सफाया कर डाला। मध्य एशिया, अफ्रीका, वेस्ट इंडीज आदि भूखंडों के आदि निवासियों को विकास के दरकारों ने लिस्बन के गुलाम बाजार में पशुओं की भांति खरीद-बेचा। भूमंडलीकरण की पहली प्रयोगशाला-लातीनी अमरीका के देशों की दलाल सरकारों ने अपने देश का हवा-पानी बेच डाला था। भारत के राष्ट्रीय विकास में भी भारतीय आदिवासियों ने विकास की जितनी बड़ी कीमत चुकाई है, संभवत: किसी समाज ने अकेले दम नहीं चुकाई। आधुनिक विकास के नारों की उल्टियाँ करती चिमनियाँ आदिवासियों के जंगल, जमीन और पारंपरिक रोजगार तक छीनती आई हैं।

भारत में विकास का वर्तमान हो या अतीत का विकास, ब्रिटिशकालीन 'इंडिया" से आजाद भारत तक पूंजीवादी व्यवस्था ने विकास की ओट में वन और वनवासियों का जैसा दुर्दांत दोहन किया है उसका औपनिवेशिक इतिहास हमारे अंग्रेजी-दां इतिहासकारों ने कभी ईमानदारी से लिखना ही नहीं चाहा।

झारखंड का अधिकांश दलित समाज झारखंड के साहू, बाबू और बाबाजी (व्यापारी, बाबू साहब और ब्राह्मण) के कृषि-मजदूर, कामगार या दिहाड़ी मजदूर हैं। मुंडा, संताल, उरांव, बिरहोर, हो, शबर, खड़िया, असुर, बिरजिया, पहाड़िया, करमाली आदि-आदि। आदिवासी समाज का 92-93 प्रतिशत मूलत: कृषि और वनोपज पर ही निर्भर है और यह खेत-जंगल विकास के नाम पर लगातार छिनते रहे हैं। कभी बलात, कभी छलपूर्वक...।

जंगल वनवासियों की जन्मभूमि ही नहीं, कर्मभूमि भी है। वन वनवासियों की रोजी-रोटी ही नहीं, संस्कृति और मर्यादा भी है जो बिकाऊ नहीं होती। हमारी व्यवस्था आदिवासियों की रोजी-रोटी, जमीन-जीविका, पुश्तैनी आवास, देवालय, श्मशान, नदी-झरने-कुएं यहाँ तक कि उनके सम्मानपूर्वक जीने का हक तक छीनती रही है... बहुत शुरू से।

ई. सन् 1865 के "वन-कानून" के द्वारा सर्वप्रथम आदिवासियों को उनके मूल वनाधिकारों की परंपरा से बेदखल किया गया। इस कोढ़ में खाज था, सन् 1927 का "वन-कानून संशोधन" जिसने जनजातियों के सामुदायिक अधिकार भी छीन लिए। सन् 1932 की "वन-नीति" ने आदिवासियों को वन-विभाग का बंधुआ

मजदूर बना डाला और फिर आया सन् 1957 का "कोल बियरिंग एक्ट"....। भारत सरकार ने ऊर्जा क्षेत्र के विकास के नाम पर खान मालिकों के हाथ ऐसा मारक हथियार थमा दिया जिसके द्वारा खान मालिक खनन हेतु अधिकृत भूमि को बलात् खाली करवा सकते थे।

नीलहे अंग्रेजों की भांति बिना सूचना दिए सैकड़ों आदिवासी गांवों पर बुलडोजर दौड़ा दिए गए। दो लाख घर-परिवार तबाह कर दिए गए। वन-सीमा से सटी कृषि-भूमि को भी खान में बदल डाला गया। जब तक भारत की सर्वोच्च अदालत सरकारी शह पर चलती इस दादागिरी को रोकती, जंगल की छाती पर घाव की भांति हजारों खाने खुल चुकी थीं, जो आदिवासी पेट-परिवार के लिए अपने खेतों में माटी-मटाल होता था, उनमें से मात्र बारह हजार थे जो अब अपनी ही जमीन पर खुदी खदानों में मलकट्टा बने कोयला काट रहे थे। शेष कल के जमीन मालिक अब कोयला चोर बन गए थे। विकास ने उनके और उनकी अगली पीढ़ियों के भविष्य को अंधे कुएं में फेंक दिया था।

झारखंड में विकास का पहिया औपनिवेशिक काल से ही आदिवासियों को कुचलता आया है। सन् 1907 में जमशेद जी टाटा ने पैंतीस हजार लोगों को विस्थापित कर "टाटा स्टील" की स्थापना की थी। तब "छोटा नागपुर टेनेंसी एक्ट (काश्तकारी अधिनियम) 1908" को चार सालों तक ठंडे बस्ते में रखा गया था ताकि टाटा महोदय को भूमि पर कब्जे हेतु "फालतू" कानूनी समस्याओं में न उलझना पड़े।

"नेतरहाट फील्ड फायरिंग रेंज" ने झारखंड के 254 गांव निगले। "कोयल कारो डैम" ने 250 गांव, शंख डैम ने 208 गांवों को तबाह कर दिया। तेनूप्पट थर्मल पावर, "चांडिल डैम" "चांडिल वाइल्ड एनिमल सेंक्यूरी".. विकास के इन कार्यक्रमों में बलि चढ़ने वालों में नब्बे फीसदी लोग आदिवासी ही हैं।

आज का "बोकारो इस्पात" कारखाना कल के "माराफारी" जैसे 46 गांवों की कब्र पर खड़ा है। बदले में मुट्ठी भर मुआवजे, दरबानी या खलास गिरी के सिवा कुछ नहीं मिला। चौंतीस हजार एकड़ भूमि पर बसे बोकारो में "सीवान मोड़", "छपरा मोड़", "बलिया मोड़", "नवादा मोड़" जैसी जगहें हैं और एक "विस्थापित चौक" भी है, जहाँ विस्थापन के शिकार अनेक परिवार दोने-दातुन पत्तल बेच रहे हैं। इस विस्थापित समाज का पुनर्वास तो दूर, गुणवत्ता के आधार पर रोजगार देने या "कुशल कारीगर" बनाना तो दूर इन्हें अंग्रेजों के पुराने "अपराधिक जनजातीय कानून 1877" के हवाले छोड़ दिया गया है। ये वे लोग हैं जिनकी अस्थि-मज्जा पर आधुनिक भारत के इस मंदिर की बुनियाद खड़ी है।

आज तक आदिवासियों की जमीनें सन् 1894 में बने, आम आदमी के वैध अधिकारों की अपेक्षा राज्य और प्रभु वर्ग के हित-साधन हेतु निर्मित "भूमि अधिग्रहण कानून" के तहत ली जाती रही हैं जिसके अनुसार "जनहित के लिए सरकार जब चाहे, जिससे चाहे जमीन ले सकती है।" बदले में बाज़ार भाव से ज़मीन की कीमत अदा की जाती रही है।

सन् 1984 में इस कानून में परिवर्तन किया गया कि "जनहित" ही नहीं, सार्वजनिक घरेलू और विदेशी कंपनियों की जरूरत के लिए भी जमीन ली जा सकती है। प्रश्न यह है कि विकास के इस प्रारूप में "जनहित" या "जरूरत" कौन तय करता है। हमारी वही कमीशनखोर व्यवस्था जो निजी कंपनियों के भूमि-हड़प को 'जनहित' का चोला पहनाती है? जो सबको भोजन-शिक्षा-स्वास्थ्य-बिजली-शुद्ध पेयजल आदि-आदि विकास के सूचकांकों को बदल कर विशाल गोल्फ, कोर्स वाली विलासितापूर्ण कॉलोनियों, मल्टीप्लेक्स, शॉपिंग मॉल, हाइटेक मॉडल सिटी, नाइट सफारी और कैसिनो को विकास का पर्याय बताती है? जो विकास की देशी अवधारणा को मिटा कर विश्व-पूंजी की हवस को ही विकास का नाम देती है? जो खूब जानती है कि "आर्थिक सुधार" कोई आर्थिक नीति नहीं वरन् एक राजनीति है जो किसी राष्ट्र की इच्छाशक्ति को नष्ट कर उसे निर्भरता और अंतत: गुलामी की ओर धकेल देती है।

भूमंडलीकृत होते भारत में अजगर की भांति पसरते पूंजीवाद से आदिवासियों की कीमत पर बाज़ार के विकास की परंपरा सुदृढ़ होती जा रही है। बहुराष्ट्रीय कंपनियों को शीघ्रातिशीघ्र हजारों एकड़ भूमि उपलब्ध कराने हेतु "भूमि अधिग्रहण संशोधन विधेयक" की लाठी से हांक कर अपनी ही निर्वाचित सरकार ने आदिवासियों को बार-बार विस्थापन की ओर धकेला है। पूंजीवादी व्यवस्था के कांजीहाउस में सस्ते मजदूरों की विशाल रेवड़ को जमा करने का काम भारत की निर्वाचित संसद ही कर रही है। अकेले झारखंड में 1991 से 1995 के बीच विकास के नाम पर पचास हजार एकड़ भूमि पर बसे पंद्रह लाख आदिवासियों को बेघर-बेजमीन कर हमारी सरकार ने उन्हें पूंजीवादी गिद्धों के आगे फेंक दिया है।

वर्तमान सरकार ने मित्तल, टाटा, एस्सार, बिड़ला आदि के पक्ष में सैकड़ों करारनामों पर हस्ताक्षर किए हैं जिनके लिए झारखंड में लगभग एक लाख एकड़ भूमि चाहिए। निश्चय ही विकास वर्तमान की जरूरत है, परन्तु पुनर्वास न हुआ तो विकास के इस रकबे से आदिवासी फालतू खर-पतवार की भांति उखाड़ कर नष्ट कर दिए जाने वाले हैं।

भारत में विदेशी निवेश के प्रवाह और भारत का आर्थिक महाशक्ति बनने का अश्वमेघ जिस आम आदमी की कीमत पर चल रहा है उनमें सर्वाधिक मोल चुकाने वाला समाज आदिवासी ही है। आदिवासियों का विनाश आधुनिक विकास की अनिवार्य शर्त बन चुका है, क्योंकि विकास के इस नए मॉडल में ऐसा कोई प्रावधान नहीं है जो न्यूनतम विस्थापन और युगांडा के नामीबिया की भांति अच्छे पुनर्वास को सुनिश्चित कर सके।

क्यों चाहें आदिवासी ऐसा विकास जो देशी-विदेशी पूंजी के गठजोड़ के द्वारा उनके जल-जंगल-जमीन का अंधाधुंध दोहन करें? और जो वन्य समाज के पारंपरिक जीवन-स्रोतों को सोखता चला जाय? आदिवासियों को जंगल से मतवातर विस्थापित करने की साजिशों वाले ऐसे विकास में आदिवासियों की आस्था कैसे हो सकती है जो विकास के नाम पर जबरिया कब्जा है या सरकारी लूट है?

"जोआर" (झारखंड ऑर्गनाइजेशन अगेंस्ट रेडिएशन) नामक गैर-सरकारी संस्था के नायक घनश्याम बिरूली कहते हैं, जब तक सांप और यूरेनियम जमीन के भीतर है, कोई खतरा नहीं। जमीन से बाहर निकले तो कभी न कभी डंसेगे ही।

झारखंड के जादूगोड़ा में बांझपन, गर्भपात या विकलांग बच्चों का जन्म आम बात है। स्थानीय संथाल लोगों ने शुरू में इस आपदा को "जादूगोड़ा" नाम दिया। "जादू" याने भुतहा और "गोड़ा" अर्थात् मैदान। यह भुतहा हवा का मामला बाद में यूरेनियम से निकलते रेडियोधर्मी विकिरण के धीमे जहर का प्रभाव साबित हुआ। प्रभावित पन्द्रह गांवों के लोगों ने खनन का विरोध किया तो जेल मिली। अब आणविक ऊर्जा के विकास की कीमत चुका रही है नवजात और भावी पीढ़ी, जिसे क्षयरोग, कैंसर, श्वांस रोग, त्वचा रोग, विकलांगता, मंदबुद्धिता आदि-आदि की सरकारी सौगात की विरासत ढोनी है, क्योंकि हैदराबाद ले जाए गए कच्चे माल के शुद्धिकरण के बाद यूरेनियम अपशिष्ट कचरा पुन: इसी क्षेत्र में लाकर फेंक दिया जाता है और इस पर बच्चे खेलते-दौड़ते रहते हैं।

उड़ीसा (पास्को) में सरकार द्वारा गठित जांच समिति ने "वेदांता" कंपनी को "वन संरक्षण कानून", "वन अधिकार कानून" तथा "पर्यावरण संरक्षण कानून" के उल्लंघन का दोषी घोषित किया पर उड़ीसा सरकार या "वेदांता" के किसी व्यक्ति पर कोई कार्रवाई नहीं हुई, परन्तु इन्हीं में से किसी एक कानून का उल्लंघन करने के आरोप में उड़ीसा में ढाई हजार और महाराष्ट्र-छत्तीसगढ में नौ हजार आदिवासी जेलों में ठूंस दिए गए हैं। यह है विकास के मनमोहन नतीजे जहाँ जबर अपने जोर पर जीता है और अबर की आबरू सबकी मेहरिया है।

अंग्रेजी कहावत है: "द वेल्थ ऑफ प्लेन्स डिपेण्डस ऑन द हेल्थ ऑफ फॉरेस्ट एण्ड माउन्टेंस" (मैदानों की समृद्धि जंगल-पहाड़ की सेहत पर निर्भर है)। आज पर्यावरण विनाश का बड़ा स्यापा हो रहा है। वन्य प्राणियों और वनस्पतियों को संरक्षित करने के तमाशे भी हो रहे हैं। साथ ही विकास-विकास के शोर में उस चीख और पीड़ा को घोंट-घोंट कर मारा भी जाता रहा है जो जनजातियों के जीवन में व्याप्त है।

केन्द्र हो या राज्य सरकार, दोनों के लक्ष्य समान हैं। भूमंडलीकरण के तहत साम्राज्यवादियों और देशी पूंजीपतियों द्वारा मध्य-पूर्व भारत (उड़ीसा-छत्तीसगढ़-झारखंड) की लूट के लिए उदारीकरण और निजीकरण की नीतियों को आक्रामक ढंग से लागू करना। उदारीकरण के सूत्रधारों द्वारा विकसित विकास का एजेंडा देश की प्राकृतिक संपदा की नीलामी है। सस्ती जमीन, मुफ्त बिजली, बेशुमार सब्सिडी, कई करों से मुक्ति, श्रम-कानूनों से मुक्ति, जिस पर भूमि-लीज की अवधि तीस वर्ष से बढ़ा कर नब्बे साल यह अपना घर स्वयं लुटवाने वाला विकास आदिवासियों के लिए विनाश का एजेंडा है।

वर्तमान समय में दिल्ली-मुंबई-चेन्नई का चमकदार "इंडिया" और है, झारखंड-अबूझमाड़-कोरापुट के दुर्गम क्षेत्रों का भारत कुछ और है। पचास वर्ष पीछे ठहरा हुआ। राष्ट्रीय राजमार्गों से हटे दूर-दूरांतर बसे विकास-वंचित देहात में आज भी महुए-बीज के तेल की ढिबरी जल रही है और टार्च विलासिता है। परिवहन के सुलभ साधन पांव हैं और साइकिल विलासिता है। पूंजी की विराट और नृशंस शक्ति से आतंकित आदिवासी एक रूपये प्रति किलो से भी कम लागत वाले शुद्ध आयोडीन (पोटाशियम आयोडेट) के बदले सस्ता-हानिकारक पोटाशियम आयोडाइड मिला राष्ट्रीय कंपनियों का थैलीबंद नमक हाट में बारह रूपये किलो बिकता देख हक्का-बक्का है। उस भौंचक्के आदिवासी के क्षेत्र में विकास का रथ अभी नहीं पहुंचा है। शीघ्र पहुंचेगा क्योंकि उसकी जमीन तले लोहा, कोयला, तांबा, अभ्रक या बाक्साईट दबा है। जब विकास की बयार वहाँ पहुंचेगी, तब यकीनन उस आदिवासी को बेघर-बेदर करने पहुंचेगी।

झारखंड में दो युगों के बाद पंचायती चुनाव हुए पर सांसदों-विधायकों के लिए नित नए चुनाव और चुनाव के बाद गठबंधन की कुत्ताघसीटी जिसका हासिल होता है कोई अवसरवादी नेता। फिर व्यवस्थित विकास की बात करना ही बेमानी है।

भांडर कस्बे का जुलियस एक्का जो 2006 में "कोल इंडिया" में डंपर चालक की लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण हुआ। दो वर्ष तक अपने जाति प्रमाण पत्र

के लिए कार्यालयों में दौड़ने, विफल रहने और अंततः नौकरी से वंचित रहने के बाद जुलियस ने झारखंड के आदिवासी मुख्यमंत्री शिबू सोरेन (तत्कालीन) से पत्र लिखकर पूछा कि "आखिर आपके पास ऐसा कोई तो रास्ता होगा जो मुझे यह भरोसा दिला सके कि मैं एक स्वाधीन एवं लोकतांत्रिक देश का ऐसा नागरिक हूँ जिसे संविधान प्रदत्त मौलिक अधिकार प्राप्त है।"

सनद रहे कि सरकार जुलियस को यह भरोसा नहीं दिला सकी। झारखंड में ऐसे सैकड़ों जुलियस एक्का है जिन्हें जाति-सत्यापन न होने के कारण योग्यता के बावजूद नौकरी नहीं दी जाती। विकास की मुख्यधारा के बाहर फेंक दिया जाता है। यहाँ यह भी गौरतलब है कि आदिवासी नेतृत्व शक्ति संपन्न होते ही "क्रीमीलेयर" में बदल जाता है। यही कारण है कि आदिवासी नेताओं के होते हुए आदिवासियों की समस्याएं अनसुलझी रह जाती हैं।

जनसंघर्ष और आदिवासी जन के हितों से जुड़े होने का दावा करने वाले भूमिगत संगठनों की विकास में रूचि नहीं है। शेष यदि कुछ बचता है तो नगर-कस्बे के किसी नोनी खाते-पलस्तर उखड़ते कमरे की ललाट पर मिटे राजनीतिक दलों की मरी बस्तियां हैं, अंतर्कलह में डूबे बिन हत्थे वाले हथौड़े हैं। आदिवासी समाज से कोई नेतृत्व भी उभरा तो अवसरवादी, लालची और अदूरदर्शी जिसे ग्रासरूट से अधिक स्पॉट प्रॉडक्ट (फुनगी फल) की फिक्र रही। मौकापरस्त कार्यकर्ताओं के सिद्धांतहीन चरित्र वाली क्षेत्रीय पार्टियों के वे क्षत्रप जिन पर कभी आदिवासी समाज को गर्व था, सत्ता और अपराध की गोद में बैठ पूंजीवाद की खुली हिमायत करने लगे।

आखिरी उम्मीद थी गैर सरकारी स्वयंसेवी संगठन। विकास के ये अग्रदूत (एन.जी.ओ.) झारखंड के बीहड़ों में उतरने अवश्य लगे हैं। इनमें से अधिकांश बड़े पैमाने पर एक समानांतर शक्ति-व्यवस्था और शासन-तंत्र में बदल रहे तथा देश के आंतरिक मामलों में विदेशी हस्तक्षेप का सम्मानजनक नकाब पहने, कुकुरमुत्तों की भांति उगी अर्धसरकारी संस्थाएं हैं। ये देशी-विदेशी सहायता राशि से अपनी जेबें भर रही हैं। आदिवासी लड़कियों को नगरों-महानगरों में आया, महरी या नर्स का काम दिलाने का झांसा देकर उन्हें देहमंडियों में झोंक रही हैं।

सरकार या सरकारी अमला भले न पहुंच पाए पर जीन्स-कुर्ते वाले, पांच सितारा जीवन जीने वाले एक्टिविस्ट, आदिवासी समस्या पर उपन्यास लिखने वाले नकली लेखक या जन-संस्कृति के सौदागार भी आदिवासी हाट-मेलों में देखे जा सकते हैं, क्योंकि लेखन या फोटोग्राफी हेतु मसाला चाहिए। इन्होंने आदिवासी समाज के बारे में सुन रखा है कि आदिवासी वृक्ष की छाल-कंद खाते हैं, पलामू

की चट्टानें मनुष्य को निगल जाती हैं, कौवे को भी यहां बुखार लगता है, यहां भूख से बिलबिलाती सोनझरिया अपनी भूखी संतानों का गला घोंट कर खुद भी कुंए में डूब मरती है।

आदिवासी समाज के रीति-रिवाज, पर्व-संस्कार, नृत्य-गीत आज की पत्रकारिता-साहित्य में गर्म जलेबियों की भांति कड़ाही से निकालते ही बिक जा रहे हैं। समाज-सेवा या संस्कृति कर्म की ओट में छदम प्रतिबद्वता की तुरही बजाते ये शिकारी आदिवासी जीवन-संस्कृति की गर्म जलेबियां दिल्ली-मुंबई-चेन्नई से लगा कर नार्वे-हालैण्ड-डेनमार्क-अमरीका तक के बाजारों तक बेच रहे हैं। आदिवासी लड़कियों की तस्वीरें उतारने वालों के पास आदिवासियों की नंगी एडियों की मछली के गलफड़ जैसी पूरे वर्ष खुली रहने वाली रक्तिम बिवाइयों की कोई तस्वीरें देखने को नहीं मिलती।

लंबी असुरक्षा आदिवासियों को आक्रामकता और हिंसा की ओर धकेलती है। कहीं से भी न्याय न मिलने पर या अन्याय रूकने की संभावना न दिखने पर आदमी या तो हत्या कर देता है या हाराकिरी पर उतर जाता है।

जंगल-झाड़ के बीच किसी महावृक्ष की जड़ को घेरे मिट्टी के अनगढ़ चबूतरे पर पकी मिट्टी के हाथी-घोड़े चढ़ा कर, चिकनी शिलाओं या बरगद-पीपल सखुए की जड़ से धागे-घंटियां बांध-लपेट कर आदिवासी समाज ने अपनी हारी-बीमारी, दुख-ताप के साथ अपने भय को भी मिथकों के सहारे प्रकृति पर छोड़ दिया है और अब वे देशी-विदेशी लूट के विरूद्ध सजग हो चुके हैं। क्योंकि वे जान चुके हैं कि जर, जोरू और जमीन की रक्षा बिना मारे या बिना मरे संभव नहीं रह गयी है।

झारखंड के आदिवासियों ने सरकारी शह पर लूट मचाने वालों का विरोध शुरू कर दिया है। आसनबनी में "भूषण स्टील" के विरूद्ध, टेटोपोसी के तेईस गांव "टाटा" के विरूद्ध या सरायकोला में माहुलडीह खनिज क्षेत्र में आदिवासियों ने असंतुलित और अंधे विकास के विरूद्ध "यू.सी.आई.एल." कंपनी को 116 हेक्टेयर जमीन हड़पने से रोक रखा है। नंदीग्राम (पश्चिमी बंगाल) से "सलीम ग्रुप" और सिंगूर से "टाटा" को पीछे हटना पड़ा है। सन् 2005 का "सेज" (स्पेशल इकानॉमी जोन) जैसा आदिवासी विरोधी कानून गोवा में खारिज किया जा चुका है। वह तो स्वयंसेवी संस्थाओं के हस्तक्षेप से बिक्री प्रस्ताव रदद हुआ, वर्ना अविभाजित मध्य प्रदेश की सरकार 1998 में राजनंदगांव अब (छत्तीसगढ़) की शिवनाथ नदी को कैलास सोनी नामक व्यापारी के हाथों बेच ही डाला था और सोनी ने "रेडियस वाटर कंपनी" के साथ समझौता कर नदी के पानी पर कब्जा कर तटवर्ती ग्रामीणों

हेतु नदी का जल प्रतिबंधित ही कर दिया था।

जंगल को बचाने का विश्व बैंक प्रायोजित "इको डेवलेपमेंट प्रोग्राम" जैसे पाखंड ने नेताओं, बड़े अधिकारियों और एनजीओ को करोड़पति बना दिया है। उदारीकरण से पूर्व अनाम कंपनी "वेदांता" की संपत्ति बीस वर्षों में 1025 गुना बढ़ चुकी है। कई जंगलों को "आरक्षित वन" घोषित कर आम आदमी को वनोपज से वंचित किया जा चुका है। भारतीय संविधान में मूलभूत अधिकारों का उल्लेख आदिवासी समाज के लिए एक त्रासद प्रहसन बन कर रह गया है। संयुक्त राष्ट्र संघ ने दिसम्बर 1994 से दिसम्बर 2004 तक "आदिवासी दशक" का कर्मकांड संपन्न कर लिया है। 9 अगस्त को "अंतरराष्ट्रीय आदिवासी दिवस" घोषित किया जा चुका है। आदिवासी इलाकों में उग्रवाद शमन के बहाने आदिवासी दमन हेतु सेना उतारने की योजना संवारी जा रही है। प्रस्तावित नया "भूमि अधिग्रहण विधेयक" आदिवासियों के समस्त वनाधिकारों की हत्या करने वाला है जिसमें "भू-स्वामी की सहमति से ही अधिग्रहण" वाली धारा ही विलोपित की जाने वाली है। यह नए आदिवासी आंदोलनों को जन्म देगी और आदिवासी नक्सलवादी घोषित कर मार डाले जाएंगे। सरकार अपनी ही भूमि का सौदा करने चली है ताकि जमीनों को अधिग्रहण कर उसे "टाटा" और "टेक्सास पावर कारपोरेशन (अमरीका)" के हाथों कौड़ियों के मोल बेचा जा सके। ताकि विकास का निर्मम घोड़ा वन्य संसाधनों का दोहन करने वाले अश्वमेघ में निर्बाध चौकड़ियां भरता रहे।

कुल जमा, बात इतनी ही है कि देश का विकास अनिवार्य जरूरत है, सो हो और खूब हो। हमारे पास भी उन्नत तकनीक हो, परमाणु बिजलीघर हो, चमचमाते राजमार्ग हो, क्रयशक्ति बढ़े, बुनियादी ढांचा सुदृढ़ हो, चांद हमारी पहुंच में हो, पर यह सब मात्र आदिवासी जनों की कीमत पर कतई न हो। आदिवासी समाज की कीमत पर मुट्ठी भर कंपनियों का अनैतिक, असंतुलित और अन्यायपूर्ण विकास हर्गिज न हो। विकास की वेदी पर आदिवासी की बलि न चढ़े, क्योंकि जब तक आदिवासी समाज रहेगा, तब तक प्रकृति पर मनुष्य की अपराजेयता के प्रति मनुष्य का विश्वास भी जीवित रहेगा।

धर्म निरपेक्षता की परिधि

रघुवंशमणि

आज के समय में धर्म निरपेक्षता की चर्चा को थोड़ा अबुद्धिसंगत माना जा सकता है। कारण यह है कि आज वैसी खतरनाक स्थितियाँ हमारे सामने नहीं हैं जैसी कि 2002 के आसपास थीं। तब साम्प्रदायिकता की प्रचण्डता के आगे बाकी समस्याएँ छोटी लगती थीं और वह चिन्तनशील लोगों की गहरी चिन्ता का विषय थी। आज की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों में यह माना जा रहा है कि साम्प्रदायिक शक्तियाँ पराजित हो चुकी हैं और अब साम्प्रदायिकता की तीव्रता लगभग समाप्तप्राय है। बुद्धिजीवी अब साम्प्रदायिकता को लेकर निश्चिन्त लगते हैं। शायद उन्हें भरोसा है कि आज तो यह समस्या पहले जैसी नहीं। संभवतः कुछ सोचने-समझने वालों को यह भी लगता हो कि अब यह समस्या हमेशा के लिए निपट गयी है और फिर लौटकर नहीं आने वाली। यह बात तो सही भी है कि आज साम्प्रदायिकता का संकट उतना गहरा नहीं है जितना पहले था।

ऐसा मानना गलत होगा कि साम्प्रदायिकता का अंत हो चुका है और अब फिर इस समस्या का सामना नहीं करना होगा क्योंकि वास्तविकता यह है कि साम्प्रदायिकता परास्त नहीं हुई है। उसके तत्व अभी भी भारतीय समाज में जीवित और सक्रिय हैं। ये तत्व समय-समय पर अवसर मिलते ही अपना सिर उठाते रहे हैं। हमारे बुद्धिजीवी की यह विशेष प्रवृत्ति है कि वह समस्या के थोड़ा हटते ही उसे विस्मृत कर देता है। वह समझता है कि समस्या का अन्त हो गया है और वह उस पर ध्यान देना बंद कर देता है। उसे समस्या की सुधि तभी तक रहती है जब तक वह सामने मुँह बाये खड़ी हो। विभाजन की त्रासदी के बाद ऐसा ही हुआ कि एक लम्बे दौर में साम्प्रदायिकता को कोई मुद्दा ही नहीं समझा गया। उस समय की साम्प्रदायिक शक्तियों को समाप्तप्राय मान लिया गया और उनके बदले हुए राजनीतिक रूप को शाकाहारी समझा गया। इमरजेंसी के बाद जो इन्दिरा विरोधी गठबंधन बना था उसमें समाजवादी और साम्प्रदायिक माने जाने वाले दल साथ-साथ थे। इसी प्रकार वी.पी. सिंह के प्रधानमंत्री बनते समय तमाम अन्तर्विरोधों को अनदेखा किया गया। यह माना गया कि अब जनसंघ या भाजपा जैसे दल उतने हानिकारक नहीं रहे जितने विभाजन के दौर में हिन्दू महासभा या राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ थे। साम्प्रदायिकता के प्रति यह निश्चिन्तता भारतीय राजनीति में बार-बार आती रही है। मगर यह देखा गया है कि अवसर मिलते ही

साम्प्रदायिकता पुनः प्रचण्ड रूप में सामने आयी है- अपने पिछले रूपों से ज्यादा खतरनाक रूप में। धर्म निरपेक्षता की चर्चा अक्सर साम्प्रदायिकता के उभार के दौर में ही सामने आती है और इस प्रवृत्ति को सहज ही माना जायेगा। कारण यह कि जब आग लगी होती है तभी पानी की जरूरत महसूस होती है और लोग खाली बाल्टियाँ लेकर दौड़ पड़ते हैं। लेकिन यह तथ्य इस दिशा में भी सोचने पर मजबूर करता है कि आखिर धर्म निरपेक्षता का समीकरण सिर्फ साम्प्रदायिकता के साथ ही क्यों बैठाया जाता है? क्या धर्म निरपेक्षता सिर्फ साम्प्रदायिकता के ही परिप्रेक्ष्य में अपनी महत्ता रखती है? क्या साम्प्रदायिकता के अनुपस्थित होने पर इसका कोई महत्व नहीं रह जाता? मेरे हिसाब से इसका उत्तर यह है कि साम्प्रदायिकता और धर्म निरपेक्षता को एक द्वैत साँचे में रखना सर्वथा अनुचित है। यह धर्म निरपेक्षता के महत्व को कम करके देखना होगा जो भारतीय समाज के परिप्रेक्ष्य में उचित नहीं।

भारत जैसे देश में धर्म निरपेक्षता की प्रासंगिकता का आधार सिर्फ धर्मान्धता का उभार नहीं हो सकता। धर्म निरपेक्षता की परिधि पर बहुत से ऐसे सकारात्मक तत्व हैं जिनका महत्व केवल साम्प्रदायिकता के परिप्रेक्ष्य में नहीं है। कहने का मतलब यह है कि धर्म निरपेक्षता की प्रासंगिकता अन्य कई प्रसंगों में भी है। इस बात को स्पष्टतः स्वीकार करना होगा कि भारत में नागरिक समाज को मजबूत बनाने के लिए धर्मनिरपेक्षता की आवश्यकता है। एक ऐसा समाज जो कुरीतियों, अंधविश्वासों और संकीर्णताओं से दूर हो। जहाँ खाप अदालतें न हों और स्त्रियों पर अत्याचार न हो। ऐसे समाज में परम्पराग्रस्तता के विरुद्ध एक विवेकशील सोच के विकास की जरूरत होगी जिसके लिए जनता में धर्म निरपेक्ष जीवन दृष्टि की आवश्यकता होगी। यह आवश्यक है कि देश की सोचने-समझने वाली जनता का चिन्तन आधार धर्म निरपेक्ष हो। धर्म निरपेक्षता के कार्यभार को हम महज राज्य के भरोसे नहीं छोड़ सकते। केवल संविधान की प्रस्तावना में लिख दिये जाने से धर्म निरपेक्षता के कार्यक्रम सफल नहीं मान लिये जाने चाहिए। धर्म निरपेक्षता का वास्तविक जीवन की गतिविधियों में होना जरूरी है। इस अर्थ में धर्म निरपेक्षता के सांस्कृतिक कार्यक्रम भारतीय समाज की प्रकृति को देखते हुए पूर्णतः बुद्धिसंगत और समीचीन होंगे। धर्म और धर्म निरपेक्षता के द्वैत साँचे को तोड़ने के पक्ष में यह एक महत्वपूर्ण विचार हो सकता है। इस सिलसिले में धर्म निरपेक्षता के प्रत्यय में निहित सहिष्णुता का भाव भारतीय समाज की सांस्कृतिक संरक्षा और एकता के लिए जरूरी होगा। भारतीय समाज में लगातार बढ़ती असहिष्णुता चिन्ता का विषय है। यह असहिष्णुता सिर्फ साम्प्रदायिक नहीं।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में धर्म निरपेक्षता के एक प्रमुख तत्व के रूप में सहिष्णुता भारतीय समाज में एक जीवन शैली के रूप में विकसित होती है। समाज में बढ़ती सामान्य आक्रामकता धर्म निरपेक्षता के इस तत्व को प्रासंगिक बनाते हैं।

धर्म निपेक्षता का मुद्दा भारत की बहुलतावादी संस्कृति के लिए भी बेहद जरूरी है। भारत की सांस्कृतिक प्रकृति ऐतिहासिक दृष्टि से बहुलतावादी रही है और इस संस्कृति में विभिन्न धर्मों और विचारधाराओं का समावेश रहा है। इस बहुलतावादी संस्कृति का स्वरूप किसी भी वर्चस्वी संस्कृति के आने से प्रभावित हो सकता है। अतः भारत के सांस्कृतिक परिवेश का बहुलतावादी होना जरूरी है। विगत तीन दशकों से विभिन्न प्रकार की वर्चस्वी शक्तियों ने समाज में स्थान बना लिया है। इनके चलते सांस्कृतिक बहुलता के स्पेस में कमी होती दिखायी देती है। यहाँ भी यह बात मार्के की है कि धर्म निरपेक्षता को केवल धार्मिक कट्टरता के विपर्यय में न रख कर साँस्कृतिक तत्वों के समुच्च के रूप में रखा जाना चाहिए।

उससे भी बड़ी बात यह है कि भारतीय प्रजातंत्र की सफलता के लिए धर्म निरपेक्षता की जरूरत है। भारत के संविधान में इस शब्द के जोड़े जाने के पीछे भारतीय प्रजातंत्र को मजबूती प्रदान करने की भावना रही होगी। भारतीय प्रजातंत्र में अन्तर्निहित तत्व सह अस्तित्व का है। यह सह अस्तित्व का भाव धर्म निरपेक्षता के अभाव में संभव न हो सकेगा। विशेषकर स्वतंत्रता के बाद के भारत का समय धार्मिक सह अस्तित्व के बने रहने या उसके समस्याग्रस्त होने का रहा है। धार्मिक सह अस्तित्व का प्रश्न धर्म निरपेक्षता के प्रश्न के साथ सहज ही जुडा हुआ है। लेकिन सह अस्तित्व का यह प्रश्न धार्मिक सह अस्तित्व के प्रश्न से परे भी जाता है।

धार्मिक सह अस्तित्व के प्रश्न से परे सह अस्तित्व का सामान्य प्रश्न भारत की एकता और अखण्डता से सम्बद्ध हो जाता है और इस अर्थ में धर्म निरपेक्षता का प्रश्न किसी प्रकार के सांस्कृतिक, भाषाई, धार्मिक राष्ट्रवाद से ज्यादा देशभक्तिपूर्ण और समीचीन सिद्ध होता है। साम्प्रदायिक उन्माद के दौर में यह बात स्वयंसिद्ध हो चुकी है कि वास्तविक राष्ट्रवाद क्या है? लेकिन सह अस्तित्व का सवाल भाषाओं, क्षेत्रों और समुदायों के सह अस्तित्व से भी जुड़ा है और यह सभी प्रकार के विश्वासों, धर्मों, समुदायों, संस्कृतियों और विभिन्न भाषा-भाषियों के जीवनाधिकारों का भी प्रश्न खड़ा करता है।

भारत जैसे विभिन्नता से भरे देश में एकता के सूत्र तलाशने की बात हो तो हम नेहरू के चिन्तन में निहित देश की अनेकता में एकता की ओर सहज ही

चले जाते हैं। देश में बहुधर्म, बहुविश्वास, बहुसंस्कृति के बीच की एकता का सूत्र भावात्मक बनता है। लेकिन हिन्दू कट्टरता ने इन तत्वों को समस्याग्रस्त किया है। उन्होंने अपने विचार और व्यवहार से एकता के इन तत्वों को कमजोर बनाया है। हिन्दू साम्प्रदायिक शक्तियों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि भारत में मुसलमान देश के आन्तरिक शत्रु हैं। उन्होंने मुस्लिम समुदाय के प्रति अविश्वास और शत्रुता का प्रचार किया है। पर बात यहीं तक सीमित नहीं। मुस्लिमों के अतिरिक्त ईसाई अल्पसंख्यकों के प्रति भी यह विचारधारा असहिष्णु है।

लेकिन चिन्ता का विषय उनकी सफलता है जिसके चलते असहिष्णुता भरे हिन्दुत्व के विचार ने समाज में स्थान बना लिया है। यद्यपि इस प्रकार के विचारों की आक्रामकता अपने आप में बहुत स्पष्ट है, तथापि यह तमाम सामान्य शान्तिप्रिय लोगों को भी आकर्षित करती है जो स्वयं हिंसा पसंद नहीं करते। यह विचारधारा स्वयं में अधिनायकवादी और फासीवादी प्रवृत्ति की है जो कड़े और अनुदार शासन की पक्षधर है। कई सन्दर्भों में यह जनतांत्रिक मूल्यों का विरोध और तानाशाही का समर्थन तक करती दिखायी देती है। अटल बिहारी वाजपेयी के अपेक्षाकृत छोटे शासनकाल में भी शिक्षा और इतिहास लेखन के क्षेत्र में की जाने वाली जोर-जबर्दस्ती इसका स्पष्ट प्रमाण है। कला और संस्कृति के क्षेत्र में तो इसके पक्षधर डण्डा भांजते ही दिखलाई पड़ते हैं। लोगों को असमंजस में डालने के लिए ये हिन्दुत्व समर्थक विभिन्न आवाजों में बोलते हैं। लेकिन इनके हजारों मुहों से निकलने वाली आवाज सिर्फ एक है, उनका केन्द्रीय स्वर एक है। वे प्रजातंत्र और फासीवाद की भाषा एक साथ बोलते हैं। मगर इनका वास्तविक चरित्र फासीवादी ही है। वे धर्म निरपेक्षता और धार्मिक कट्टरता की भाषा एक साथ बोलते हैं, मगर इनकी धर्म निरपेक्षता महज ढोंग है। धार्मिक कट्टरता ही इनका वास्तविक चरित्र है।

साम्प्रदायिकता के पैरोकार आधुनिकता और सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की बात एक साथ करते हैं। नयी साम्प्रदायिकता की विशेषता यह है कि वह हिन्दू राष्ट्र के साथ-साथ टेक्नोलॉजी और पश्चिमी विज्ञान की बात एक साथ करती है। वे इन सब को आधुनिक हिन्दुत्व के तत्व कहते हैं और उन्हें हिन्दुत्व के पुरातनपंथ से जोड़ते हैं। सैद्धांतिक रूप से ये तत्व अपवर्जी हैं और इनके संतुलन का प्रयास अधिक लम्बे समय तक न तो सैद्धान्तिक रूप से संभव है और न ही व्यावहारिक रूप से।

हिन्दू राष्ट्र की अवधारणा मूलतः सवर्ण हिन्दू केन्द्रित रही है और यह संघ परिवार का मुख्य एजेण्डा रहा है। अपने वाद को पुष्ट करने के लिए इनके पास हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष का ऐतिहासिक आख्यान है जिसका मार्ग हर प्रकार से

धार्मिक सहिष्णुता और धर्म समभाव के मार्ग से अलग है। संघ परिवार के चिन्तन में हिन्दू हमेशा देशी, मूल निवासी और देश प्रेमी हैं। मुस्लिम इसके ठीक उलट विदेशी, बाहरी और देश प्रेम के मामले में संदेहजनक हैं। ये कहा जाता है कि वे पाकिस्तानी हैं, या पाकिस्तान के समर्थक हैं। यह अजीब विडम्बना है कि सैकड़ों वर्षों से इसी भूमि पर रहने के बावजूद ऐसा माना जाता है कि वे बाहरी हैं। बहुसंख्यक हिन्दू जनता को मुस्लिमों की बढ़ती आबादी का भय दिखलाया जाता है। इसके अतिरिक्त मुस्लिमों को प्रवृत्ति से हिंसक, कट्टर और स्त्री के प्रति दमनात्मक दिखाया जाता है। कुल मिलाकर लब्बो-लुबाब यह कि मुस्लिम एक स्वकथित उदार हिन्दू राष्ट्र के लिए खतरनाक बताये जाते हैं।

संघ परिवार इस सब का समाधान यह बताता है कि मुस्लिमों को हिन्दू संस्कृति में समाहित कर लिया जाना चाहिए या फिर उन्हें अल्पसंख्यकों की तरह दोयम दर्जे का नागरिक बनकर रहना चाहिए, जैसे पाकिस्तान में हिन्दू रहते हैं। लेकिन एक कट्टर हिन्दुत्व वह भी है जो हिंसक कार्यक्रमों से लैस है और जो अल्पसंख्यकों के सफाए में विश्वास रखता है। गुजरात में हुई घटनाएँ इसी प्रकार के हिन्दुत्व के कार्यक्रम का उदाहरण हैं। यह वह हिन्दू-मुस्लिम द्वैत है जिसके केन्द्र में घृणा है। भारतीय जनता पार्टी की राजनीतिक पराजय के बाद भी ये सभी अवधारणाएँ समाज में प्रचारित की जाती रहीं हैं। इसलिए साम्प्रदायिकता को किसी भी दशा में पराजित मानना उचित नहीं।

मेरे विचार से इस प्रकार के साम्प्रदायिक तत्वों के विकास का कारण भारत में धर्म निरपेक्षता के तत्वों का लगातार कमजोर होना है। धर्म निरपेक्षता के तत्वों को महज साम्प्रदायिकता के विरुद्ध रखने से समस्या का कोई अंत नहीं होता क्योंकि अक्सर ऐसा करना नकारात्मक ही होता है। ऐसा खासकर तब भी होता है जब अल्पसंख्यक साम्प्रदायिकता के विरुद्ध धर्म निरपेक्षता के मुद्दे नहीं उठाए जाते। लेकिन सबसे बड़ा संकट इस बात में निहित है कि धर्म निरपेक्षता के मूल्यों को धर्म निरपेक्षता की परिधि पर पड़े मूल्यों से जोड़ने का प्रयास नहीं किया जाता। उसे व्यापक परिप्रेक्ष्य में नहीं प्रस्तुत किया जाता।

इसलिए यह आवश्यक है कि धर्म निरपेक्षता को मजबूत बनाया जाए। शिक्षा के क्षेत्र में उसके तत्वों को अधिकतम महत्व दिया जाए ताकि ये तत्व आगे आने वाली पीढ़ी में गहराई से रोपे जा सकें। ऐसा होने पर साम्प्रदायिकता का उभर पाना यदि असंभव नहीं तो कठिन तो अवश्य होगा। यही कारण है कि हमें धर्म निरपेक्षता की राजनीति के बजाय/अतिरिक्त धर्म निरपेक्षता की संस्कृति की चर्चा करनी चाहिए और उसे एक जीवन शैली के रूप में देखना चाहिए जो

हमारे नागरिक जीवन में समाहित होकर न केवल एक मजबूत राष्ट्र के निर्माण में सहायक हो अपितु एक बेहतर मानवीय समाज की स्थापना में भी सहयोग करे। मैं धर्म निरपेक्षता को सभी समस्याओं के लिए राम बाण के रूप में नहीं प्रस्तुत करना चाहता। मगर यह सुनिश्चित है कि उसके विभिन्न तत्वों की महत्वपूर्ण भूमिका इसकी परिधि को लगातार विस्तार देती है।

आज धर्म निरपेक्षता से जुड़े परम्परागत मुद्दों के साथ नये विषय भी उभरकर सामने आये हैं। पहले धर्म निरपेक्षता को राज्य और धर्म के सम्बन्धों तथा धर्म के वैयक्तिक होने से जोड़ा जाता था। लेकिन अब बहुत सारे नये प्रश्न धर्म निरपेक्षता के सवाल से जुड़ गये हैं। भारत में बहुधार्मिक और बहुसांस्कृतिक समाज के निर्माण का प्रश्न एक बड़ा और महत्वपूर्ण प्रश्न है। ऐसे समाज को अपनी पूर्णता तक ले जाने का लक्ष्य धर्म निरपेक्षता के पास होना ही चाहिए। साथ ही साथ भारत जैसे उदार प्रजातांत्रिक समाज में अल्पसंख्यकों की स्थिति और भविष्य से जुड़ा प्रश्न भी धर्म निरपेक्षता के लिए दुर्निवार सवाल है। धर्म निरपेक्षता केवल और केवल साम्प्रदायिकता के विरोध में उठा स्वर नहीं है, यह मूलतः न्याय और समानता के व्यापक जनतांत्रिक प्रश्न से जुड़ा हुआ है।

धर्म निरपेक्षता के पूर्व चर्चित तत्वों के महत्व को भारत में क्षेत्रीयता के हिंसक विकास के सन्दर्भ में अंकित किया जाना चाहिए। शिव सेना की पूरी चार दशकों की राजनीति ही क्षेत्रीयता पर टिकी हुई है। जगह-जगह बाहर से आये लोगों को मारने-पीटने की घटनाएँ बढ़ती गयी हैं। कभी-कभी तो साम्प्रदायिक दंगों का एक प्रमुख कारण यही होता है। साम्प्रदायिकता की आड़ में बाहरी लोगों को मारने या मार भगाने की योजनाएँ होती हैं। बताना जरूरी नहीं कि इसके आर्थिक और व्यापारिक कारण होते ही होते हैं।

धर्म की तरह जातिवाद ने उत्तर भारतीय राजनीति से जुड़े वास्तविक मुद्दों को लगभग बाहर कर दिया है। इस बात को स्पष्ट करना जरूरी होगा कि यह मामला आरक्षण का नहीं है। यह उस जाति की राजनीति से सम्बन्धित है जो पार्टियों के लिए वोट बैंक तैयार करती है तथा प्रजातंत्र और उसकी प्रक्रिया को लगभग व्यर्थ कर देती है। यदि जाति के ही आधार पर अधिसंख्य वोट पड़ जाने हों तो फिर वास्तविक मुद्दे चुनाव के लिए बचते ही कहाँ हैं। यहाँ भी संकीर्णताएँ ही जाति की राजनीति में व्यापक स्वीकृति प्राप्त करती हैं। सहिष्णुता या विवेक नहीं।

धर्म निरपेक्षता की व्यापकता का विचार वास्तव में उस समस्याग्रस्त समय के गर्भ से निकला जब बाबरी मस्जिद ध्वंस हुआ और गुजरात के दंगे

भयानक रूप से सामने आये। उस दौर की साम्प्रदायिक हिंसा के समक्ष पैदा हुई बेचारगी ने मुझे धर्म निरपेक्षता के सिलसिले में दो दिशाओं में जाने के लिए उत्प्रेरित किया। एक दिशा तो पीछे मुड़कर उस मानववाद या उदार मानववाद की ओर जाने की थी जिसके धरातल पर एक व्यापक मानवीय एकता की संप्राप्ति संभव है। दूसरी दिशा धर्म निरपेक्षता की दिशाओं अथवा तत्वों को उनकी परिधि पर अधिकाधिक विस्तार देना और उसके अन्य सामाजिक तत्वों से बनते सम्बन्धों को समझना था। उस दौर की धर्म निरपेक्षता पर चली प्रचण्ड बहसों ने प्रचलित धर्म निरपेक्षता की सीमा और अपर्याप्तता को रेखांकित कर दिया था। उस बहस से भी इस दिशा में सोचने समझने की अन्तर्दृष्टि प्राप्त हुई पर मैं यह समझता हूँ कि इसका महत्व तब से अधिक अब है जब हमें धर्म निरपेक्षता के तत्वों को समाज में ठीक से अवस्थित करने की आवश्यकता है।

धर्म निरपेक्षता पर यह आरोप लगता रहा है कि यह इतनी व्यापक नहीं है कि बहुधर्मी भारत में सह अस्तित्व की अवधारणा को समेट सके। ऐसा कहने वाले वस्तुतः आधुनिक धर्म निरपेक्षता की बेहद संकीर्ण अवधारणा लेकर चलते हैं। वास्तव में भारतीय धर्म निरपेक्षता स्वयं में इतनी व्यापक है कि यह विविध धर्मों में उदार सह अस्तित्व का आधार बन सके। सर्व धर्म समभाव की अवधारणा को यदि सम्यक रूप से समझा जाय तो कोई कारण नहीं कि यह सह अस्तित्व की अवधारणा को स्वयं में समा न सके।

धर्म निरपेक्षता और उसमें निहित सह अस्तित्व की धारणा की व्यापकता ऐसी है कि इसे कानून के द्वारा जीवन के हर क्षेत्र में लागू नहीं किया जा सकता। इसके लिए समाज मे ही ऐसी मानसिकता पैदा करनी पड़ेगी कि ये तत्व सांस्कृतिक पर्यावरण में अपना स्थान बना सकें। इसके लिए धर्म निरपेक्षता के सांस्कृतिक तत्वों को महत्व देना होगा। धर्म निरपेक्षता के तत्वों को समाज और संस्कृति में उपलब्ध करना होगा। सेकुलर राज्य में धर्म निरपेक्षता का अनुप्रयोग कानून और राज्य प्रशासन से अलग स्वयंसेवी संस्थाओं, शान्ति संस्थाओं, जमीनी स्तर के सामंजस्य स्थापित करने वाली संस्थाओं द्वारा भी होना चाहिए। इस कार्य में मानविकी और साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका रही है और आगे भी हो सकती है। शिक्षा के क्षेत्र में इधर इन विषयों के महत्व को कम कर के ही ऑका जा रहा है जो उचित नहीं। साहित्य, सिनेमा और थियेटर की भी इस क्षेत्र में भूमिका महत्वपूर्ण हो सकती है। कुल मिलाकर यह एक ऐसी दुनिया के सृजन का सवाल है जो साम्प्रदायिक घृणा, असहिष्णुता और हिंसा से दूर हो। इस अर्थ में धर्म निरपेक्षता का सवाल केवल भारतीय नहीं बल्कि ग्लोबल है।

तुलसी काव्य में दलित विमर्श

श्रीभगवान सिंह

दलित चेतना, दलित विमर्श के उफान ने साहित्कारों के मूल्यांकन के कतिपय पारम्परिक प्रतिमानों को लगभग ध्वस्त करते हुए केवल दलित चेतना को ही एक मात्र निष्कर्ष के रूप में ला खड़ा किया है। दलित चेतना के आग्रह तले राजनीति में महात्मा गांधी को, तो साहित्य में तुलसीदास को सबसे अधिक लांछित किया जा रहा है। इन्हें एक स्वर से दलित विरोधी सिद्ध करने की मुहिम जोरों पर है। इस मुहिम की लपेट में अब प्रेमचंद भी आते जा रहे हैं। बहरहाल यहां हमारा प्रयास यह देखने दिखाने का है कि यह दलित चेतना है क्या और इसे लेकर तुलसी काव्य में किस तरह के सरोकार देखने को मिलते हैं।

इन दिनों 'दलित' शब्द का बहुत ही सीधा-सपाट अर्थ यह कर दिया गया है-इसका दायरा केवल हिंदू समाज में अस्पृश्य समझी जाने वाली जातियों के जीवन-यथार्थ, भाव, संवेदना, अनुभव आदि का संकुचित कर दिया गया है। इस लिहाज से अस्पृश्य जातियों में पैदा हुए लेखक अपने भोगे हुए यथार्थ को जिस अंदाज में व्यक्त कर रहे हैं, सिर्फ वही दलित चेतना या दलित साहित्य का संवाहक है। किन्तु 'दलित' शब्द के इतिहास पर दृष्टिपात किया जाए तो इस शब्द की प्रयोग-परम्परा काफी व्यापक एवं गतिशील रही है।

विचित्र विरोधाभास है कि जिस संस्कृत भाषा एवं साहित्य को आज का दलित विमर्श ब्राह्मणवादी घोषित कर उससे अपने को पृथक करने पर जोर देता है, उसी संस्कृत भाषा का शुद्ध तत्सम शब्द यह 'दलित' है और इस शब्द के प्रयोग की विपुल परम्परा संस्कृत साहित्य में उपलब्ध है। किशोर कुणाल ने अपनी पुस्तक 'दलित-देवो भव' में दलित शब्द की अर्थ-परम्परा का जो इतिहास प्रस्तुत किया है वह यहाँ गौरतलब है- "संस्कृत का दलित शब्द 'दल' धातु में 'क्त' प्रत्यय जुडने से बना है। संस्कृत साहित्य में इस 'दल' धातु का भी व्यवहार दो अर्थो में हुआ है-विदारण और विकसन। विदारण यानी फटने के अर्थ में भवभूति ने उत्तररामचरितम् में इसका प्रयोग अनेक बार किया है, यथा- 'अपिग्रावा रोदित्यपि दलित वज्रस्य हृदयम्'। गीत गोविन्दकार जयदेव ने भी 'दलितहिरण्यकशिपुतनुभृगंम्' (दशवतार-स्तुति) में यही अर्थ लिया है। दूसरे अर्थ में यह प्रफुल्लित अथवा विकसित होने के संदर्भ में प्रयुक्त होता है। भारवि ने किरातार्जुनीयम्' में 'न दलति निचेये तथोत्पलानां' (10-39) में इसका प्रयोग इसी अर्थ में किया है। मल्लिनाथ ने भी अपनी टीका में 'दलति विकसित' लिख कर

इस अर्थ को एकदम स्पष्ट कर दिया है। प्रबोधचन्द्रोदय नाटक में कृष्ण मिश्र ने भी लिखा है- 'त्रैलोक्यं सहजप्रकाशदलितम्' यानी तीनों लोक सहज प्रकाश से उज्जवलित हैं। यहाँ 'दलित' शब्द 'धवलीकृत' अर्थ में प्रयुक्त है। आप्टे के संस्कृत हिंदी कोश और शब्दार्थ चिन्तामणि-कोश में भी दलित शब्द के ये दोनों अर्थ मिलते हैं। संस्कृत-गणित में यह शब्द अर्धभाग के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, जो भास्कराचार्य की प्रसिद्ध पुस्तक 'लीलावती' में 'त्येका दलित विभाजितेष्टेन' से स्पष्ट है। हिंदी और मराठी में दलित शब्द भिन्न अर्थ में प्रयुक्त है। आधुनिक भारतीय साहित्य के संदर्भ में।

- दलित वो हैं, जिसका दारूण दलन, दहन एवं शोषण होता रहा है, तथा समाज में जो वंचित, उपेक्षित एवं प्रताड़ित रहा है।
- शोक जिसका आहार, अश्रु जिसका उदगार और अभिशाप जिसका उपहार रहा है, वह दलित है।
- बहिष्कार जिसका सत्कार, बेगार जिसका दैनिक त्यौहार और दुत्कार, फटकार एवं तिरस्कार जिसका पुरस्कार रहा है, वह दलित है।
- दुर्भाग्य जिसका पर्याय, दास्य जिसका व्यवसाय और दारिद्रय जिसका अमिट अध्याय रहा है, वह दलित है।
- अपमान जिसका प्रतिमान, पुरूषार्थ जिसका धनुष-बाण और अंगूठा जिसका कंगन, उत्पीड़न जिसका ईंधन और अधिकार-अपहरण जिसका आलिंगन रहा है, वह दलित है।
- विपत्ति जिसकी नियति, संपत्ति जिसकी स्वप्निल स्मृति और क्रांति जिसकी प्रसुप्त प्रवृति रही है, वह दलित है।
- दीनता जिसकी गृहिणी, दासता जिसकी भगिनी और अस्पृश्यता जिसकी संगिनी रही है, वह दलित है।
- मौन जिसकी वाणी, क्रन्दन जिसकी कहानी और वेदना जिसकी रानी रही है, वह दलित है।
- श्रम को साध्य और कर्म को असाध्य मानकर भी दैन्य-दंश झेलने के लिए जो सदैव बाध्य रहा है, वह दलित है।

प्राचीन साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक का अवगाहन करते हुए किशोर कुणाल ने दलित होने के जो लक्षण निर्दिष्ट किये हैं, उन सबको ध्यान में रखें तो मानना पड़ेगा कि सिर्फ अस्पृश्यता का दंश भोगने वाली जातियों के लोग ही दलित नहीं है, अपितु अन्याय, अभाव, दमन, दलन, शोषण, दारिद्रय, अपमान आदि के जो भी शिकार हैं, चाहे वे किसी भी वर्ण जाति, लिंग, समूह, संप्रदाय के

हों, वे सब के सब दलित कहे जायेंगे। किंतु पिछले कुछेक दशकों के दौरान जिनके लिए अछूत या अस्पृश्य की जगह पर गांधी जी ने 'हरिजन' शब्द का चलन किया, उन्होंने 'दलित' शब्द को 'हाईजैक' कर लिया, ठीक वैसे ही जैसे कम्युनिस्टों एवं मार्क्सवादियों ने वामपंथ शब्द को हाईजैक कर लिया। सर्वविदित है कि वामपंथ एवं दक्षिणपंथ का राजनीतिक हलकों में चलन 1789 में संपन्न हुई फ्रांसीसी राज्य क्रांति के दौरान हुआ। फ्रांस की राष्ट्रीय ऐसम्बली थी आहुत की गई बैठक में उसके अध्यक्ष की बायीं तरफ परिवर्तन चाहने वाले लोग बैठे, तो दायीं तरफ परिवर्तन विरोधी लोग। तब से परिवर्तन चाहने वालों के लिए 'वामपंथी' और परिवर्तन का विरोध करने वालों के लिए 'दक्षिणपंथी' (Rightist) जैसे शब्दों का प्रयोग होने लगा। तब तक 'वामपंथ' का मार्क्सवाद-साम्यवाद से कुछ लेना-देना नहीं था क्योंकि ये सिद्धान्त ही फ्रांसीसी क्रांति के बाद प्रतिपादित होकर सामने आये। लेकिन रूस, चीन में मार्क्सवादी-समाजवादी सिद्धान्तों से प्रेरित जो क्रांतियाँ हुई, उसके बाद मार्क्सवाद, साम्यवाद के झंडाबरदारों ने वामपंथ को हाईजैक कर लिया और तब से इस शब्द पर उनका इजारा चला आ रहा है। मार्क्सवाद, साम्यवाद के सिद्धांतों से अलग रह कर सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के लिए आंदोलन करने वालों को 'वामपंथी' कहना-समझना एक तरह का राजनीतिक कुफ्र हो गया। ठीक इसी तरह आजादी के बाद अस्पृश्य या हरिजन शब्द का परित्याग करते हुए अस्पृश्य जातियों के बुद्धिजीवियों एवं नेताओं ने 'दलित' शब्द पर अपना इजारा, एकाधिकार स्थापित कर लिया और केवल अस्पृश्यता के धागों से दलित चेतना का वितान बुनते हुए साहित्य में दलित चेतना या दलित विमर्श के नाम पर केवल अछूत जातियों के जीवन-यथार्थ को खोजने या अभिव्यक्त करने की कोशिशें की जाने लगीं। यह कार्य वैसे ही हुआ जैसे बरगद-वृक्ष की हजारों टहनियों को काट-छाँट कर केवल एक टहनी ही रहने दी जाय। इस इकहरे, संकीर्ण अर्थ में दलित शब्द को ग्रहण करते हुए हम तुलसी-काव्य में इसे देखने का प्रयास करेंगे, तो निस्संदेह हमें निराश होना पड़ेगा, लेकिन प्राचीन साहित्य से लेकर आधुनिक साहित्य तक में, जैसा कि किशोर कुणाल ने लक्षित किया है, दलित होने के जितने लक्षण हैं, उन्हें ध्यान में रखते हुए जब हम तुलसी-काव्य पर विचार करेंगे, तो वहाँ यथेष्ट मात्रा में दलित विमर्श की उपलब्धता दृष्टिगोचर होगी।

'दलित' शब्द से तुलसीदास अनजान नहीं थे, लेकिन उनके लिए उसका अर्थ वहीं नहीं था जो आज के दलित-विमर्श में है। 'दलित' के जो उपर्युक्त लक्षण बतलाये गये हैं, उन्हीं के आलोक में तुलसी 'दलित' शब्द का प्रयोग करते हुए

दिखाई देते हैं। इसे 'मानस' की एक चौपाई के जरिये समझा जा सकता है। चौपाई का प्रसंग है जब भरत-शत्रुघ्न पिता की मृत्यु के बाद ननिहाल से लौटते हैं और जो कुछ घटित हुआ उसे सुनकर दोनों ही अत्यन्त क्रुद्ध होते हैं। भरत अपनी माँ को जी भर कर कोसते हैं, तो शत्रुघ्न इस अनहोनी की सूत्रधार मंथरा को अपने कोप का पात्र बनाते हुए उस पर पाद-प्रहार करते हैं-

''हुमगि लात तकि कूबर मारा। परिमुँहभर महि करत पुकारा।
कबूर टूटेउ फूट कपारू। दलित दशन मुख रूधिर प्रचारू।।''

यानी शत्रुघ्न ने मंथरा को इतने जोर से लात मारी कि वह मुँह के बल गिर पड़ी, उसका कूबर टुट गया, दांत भी 'दलित' यानी टूट कर गिर गये। यहाँ पर प्रयुक्त 'दलित' का अर्थ विस्तार करें तो उसका आशय होगा वह जिसे अपने स्थान से गिरा दिया जाए, विस्थापित कर उसे दीन-हीन, प्रतिष्ठा विहीन बना दिया जाए। मुँह से दांत के निकल जाने पर न उसकी कोई मर्यादा, प्रतिष्ठा रह जाती है, न अस्मिता एवं उपादेयता। अर्थात तुलसी के लिए 'दलित' का तात्पर्य उन सबसे है जो समाज में पद 'दलित' होकर गिरे हुए, वंचित दानहीन, अस्मिता-प्रतिष्ठाहीन है और ऐसे जनों के जीवन-चित्रों की भरमार है तुलसी-काव्य में।

'दलित' शब्द की इस अर्थ-परम्परा को ध्यान में रखा जाए तो तुलसीदास खुद एक बहुत बड़े 'दलित' के रूप में नजर आते हैं। अपने जन्म से लेकर जीवन के अंतिम पहर तक तुलसीदास जो चित्र विभिन्न स्थलों पर उकेर गये हैं, उनमें उनके एक 'दलित' होने की मर्मान्तक पीड़ा धड़कती सुनाई पड़ती है। वैसे जन्मते कबीर को भी उनकी माँ ने त्याग दिया था कुछ विवशता के कारण, फिर भी उन्हें पालने-पोसने वाले माता-पिता के रूप में जुलाहा-दम्पति सुलभ हो गया जबकि माँ-बाप की जायज संतान होने के बावजूद तुलसी को अशुभ समझ पिता ने त्याग दिया, तो आकस्मिक मौत ने उनसे माँ को छीन लिया। इस विषम दारूण परिस्थिति का तुलसी ने अनेक स्थलों पर बड़ा मार्मिक वर्णन किया है, यथा-

''मातु-पिता जग जाइ तज्यो बिधिहूँ न लिखी कछु भाल भलाई।
नीच, निरादरभाजन, कादर, कूकर-टूकन लागि ललाई।
राम-सुभाउ सुन्यों तुलसी प्रभुसों कह्यों बारक पेट खलाई।
स्वास्थ को परमारथ को रघुनाथ सो साहेबु, खोरि न लाई।।2

यह है तुलसी की आपबीती कि माता-पिता ने संसार में जन्म देकर त्याग दिया, ब्रह्मा ने भी जिसके भाग्य में कुछ भलाई नहीं लिखी। नीच निरादर के पात्र बने, कुक्कुर के मुँह के टुकड़े के लिए भी ललचाते रहने वाली परिस्थिति का सामना किया इस तुलसी ने। क्षुधाग्नि ने तुलसी को किस कदर पीड़ित किया उसका

दूसरा मार्मिक चित्र 'कवितावली' में ही इस प्रकार है-

"जातिके, सुजाति के, कुजाति के, पेटागि बस,
खाए टुक सबके, बिदित बात दुनीं सो।3

यानी मैंने पेट की आग के कारण जाति, सुजाति, कुजाति सभी के टुकड़े माँग-माँग कर खाये हैं-यह बात संसार में सबको मालूम है। माँ-बाप से परित्यक्त तुलसी की व्यथा का एक अन्य शब्द- चित्र देखें-

"जायो कुल मंगन, बधावनों बजायो, सुनि,
भयो परितापु पापु जननी-जनक को।
बारेतें ललात-बिललात द्वार-द्वार दीन,
जानत हो चारिफल चारि ही चनक को।। 4

यह है तुलसी का जीवन-यथार्थ-भिक्षाटन करने वाले कुल (ब्राह्मण) में उत्पन्न हुए, उसके उपलक्ष्य में बधावा तो बजाया गया, लेकिन इससे माता-पिता को परिताप और कष्ट ही हुआ। नतीजतन वह बालपन से अत्यन्त दीन होने के कारण द्वार-द्वार ललचाता और बिलबिलाता फिरा और भीख में मिले चने के चार दानों को ही अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष रूपी चार फल समझता था। माता-पिता द्वारा त्यागे जाने के कारण कैसे तुलसी को कदम-कदम पर तिरस्कार, अपमान, अभाव के जहर का कड़वा घूँट पीने को बाध्य होना पड़ा, इसकी बड़ी ही मर्मस्पर्शी अभिव्यक्ति उनके इस पद में मिलती है-

"द्वार-द्वार दीनता कही, काढि रद, परि पाहूँ।
हैं दयालु दुनी दस दिसा, दु:ख-दोष-दलन-छम, कियो न संभाषन काहूँ।।
तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यों, तज्यों मातु-पिताहूँ।
काहेको रोष, दोष काहिधौं, मेरे ही अभाग मोसों सकुचत छुई सब छाहूँ।।5

यह है तुलसी जो द्वार-द्वार पर दांत निकालकर और पैरों पड़-पड़कर अपनी दीनता सुनाते रहे। दसों दिशाओं के दुखों और दोषों के दमन करने में समर्थ दयालु लोग में भी किसी ने उससे बात नहीं की। माता-पिता ने इस तरह त्याग दिया जैसे कुटिल कीड़ा अपने ही शरीर से जने हुए बच्चे को त्याग देता है। यही नहीं, उसकी छाया तक छूने में भी लोग संकोच करते हैं। स्पष्ट है कि तुलसी को न केवल दीनता का, अपितु अछूत समझे जाने का भी दंश झेलना पड़ा था। ऐसी विषम परिस्थिति में तुलसी ने क्या-क्या पापड़ बेले उसका भी चित्र देख लिया जाए-

"कहा न कियो, कहाँ न गयो, सीस काहि न नायो?
राम रावरे बिन भये जन जनमि-जनमि जग दुख दसहू दिसि पायो।
आस-बिबस खास दास है नीच प्रभुनि जनायो।
हा हा करि दीनता कही द्वार-द्वार बार-बार, परी न छार, मुह बायो।।
असन-बसन बिनु बावरो जहँ-तहँ उठि धायो।
महिमा मान प्रिय प्रानते तजि खोलि खलनि आगे, खिनु-खिनु पेट खलायो।।
नाथ! हाथ कछु नाहि लाग्यो, लालच ललचायो।
सॉच कहॉ, नाच कौन सो जो, न मोहि लोभ लघु हौं निरलज्ज नचायो।।6

तुलसी के जीवन में लाचारी, बेबसी का ऐसा ही आलम रहा जिससे निबटने के लिए उन्होंने क्या नहीं किया, कहाँ नहीं गये, बार-बार द्वार-द्वार पर अपनी गरीबी सुनाकर मुँह बाया, पर उसमें खाक भी न पड़ी। यह तुलसी भोजन और वस्त्र के बिना पागल की तरह जहाँ-तहाँ दौड़ता फिरा, प्राणों से प्यारी मान-प्रतिष्ठा को त्याग कर दुष्टों के सामने क्षणे-क्षणे अपना खाली पेट खोलकर दिखाता रहा, उसने लोभ के कारण बहुत ही लालच किया पर कहीं कुछ भी हाथ नहीं लगा। तुलसी साफगोई से स्वीकार करते हैं कि ऐसा कौन सा नाच है जो नीच लोभ ने उन्हें निर्लज्ज बनाकर न नचाया।

यह कहना कि तुलसी ने यह सारी दु:ख-कथा राम-भक्ति की महिमा दर्शाने के लिए लिखी, बहुत बड़ी नासमझी होगी, साथ ही कवि द्वारा भोगे गये कटु यथार्थ की अवमानना भी। वस्तुत: भौतिक जगत में प्रतिक्षण दैन्य, अभाव, अपमान का सामना करने वाले तुलसी ने राम नाम या राम-भक्ति को इन सबसे बचाव के अमोघ अस्त्र के रूप में अंगीकार किया-यानी दलन-उत्पीड़न की परिस्थिति से मुक्ति की चाहत ने उन्हें राम-भक्ति का वरण करने को प्रेरित किया, यह कहना उनकी दलित जीवन-दशा को सही प्ररिप्रेक्ष्य में देखना होगा। इस पीडित, दैन्य, अभाव से ग्रसित तुलसी को रात में अच्छी तरह सो पाना भी नसीब न हुआ- 'डासत ही गई बीति निसा सब कतहुं न, नाथ! नींद भरि सोयों।" सारी रात बिस्तर लगाने में-उसे बार-बार उलट-पलट कर ठीक करते हुए बीता देने में कितनी सारी पीड़ादायक स्थितियों की अर्थ-छवियाँ छिपी हैं। भूख से अकुलाये, ठंड से ठिठुरते, आधि-व्याधि से परेशान व्यक्ति करवटें बदलते, बिस्तर को इधर से उधर करते रात बीता देता है। कितनी पीड़ा है- कबहुँ न नाथ, नींद भरि सोयों कहने में। जगह का निरापद न हो पाना भी एक कारण हो सकता है। ठीक से न सो पाने की यातना ने ही तुलसी को निरापद स्थान के रूप में 'मसीत' का चयन

करने को बाध्य किया होगा- ''मांगि कै खैबो, मसीत को सोईबो' की घोषणा इसी का प्रमाण है।

और भी अनेकानेक पद हैं जिनमें तुलसी की दीनता, हीनता, निरूपायता, अभावग्रस्तता, इत्यादि और प्रभावोत्पादक ढंग से सामने आती है। सचमुच, जो बाप के रहते अनाथ जैसा जीवन जीने को मजबूर हो जाए, गरीबी, भुखमरी के निष्ठुर थपेड़ों से जिसका बचपन लहू-लुहान हो जाए, जो भीख में मिले चार चने को ही चार फल समझने की खुशफहमी पाल बैठे, ऐसे बालक तुलसी को 'दलित' नहीं तो क्या कहा जाए? गरीबी की आँच से झुलसे बचपन का ऐसा ही मार्मिक चित्र प्रेमचंद की कहानी 'ईदगाह' में मिलता है। आर्थिक तंगहाली से त्रस्त दादी से बालक हामिद महज एक आना पैसे लेकर ईदगाह के मेले में जाता है। वहाँ जाकर वह तरह-तरह की मिठाइयों, खिलौनों को देखकर ललचाते रह जाता है और अंत में मन मार कर वह दादी के लिए एक चिमटा खरीद कर चल देता है। गरीबी का दंश झेलने वाले इस हामिद के प्रति हमारे आधुनिक समीक्षक करूणा से द्रवित हो उठते हैं, लेकिन 'द्वार-द्वार ललाते-बिललाते' बालक तुलसी उन्हें सिर्फ एक ब्राह्मण-बालक के रूप में नजर आते रह जाते हैं। आज के कथित दलित लेखकों की आत्मकथाओं में उनके भोगे हुए अभाव, अपमान, भूख आदि की जो पीड़ाएं सामने आ रही हैं, जो उनके दलित होने का सबूत दे रही है। क्या तुलसी द्वारा भोगी गई ये पीड़ाएं उन पीड़ाओं से कमतर हैं? लेकिन दलित चेतना के दोहरे मानदंडों तले तुलसी की पीड़ा एक दलित की नहीं, एक ब्राह्मण की हो जाती है, यह हमारी दलित समझ का दिवालियापन नहीं तो क्या है? सच कहें तो समस्त मध्यकालीन संत-भक्त कवियों में तुलसी से अधिक दलित जीवन का भुक्तभोगी कोई नहीं है। भीख माँग कर पेट भरने को, द्वार-द्वार जाकर गिड़गिड़ाने को विवश तुलसी कबीर आदि की तुलना में अधिक दलित नजर आते हैं। कबीर के पास तो आर्थिक स्वावलम्बन के लिए पुश्तैनी उद्योग करघा था, रैदास के पास चर्म-उद्योग था, नामदेव के पास दर्जीगिरी का धंधा था, लेकिन वर्ण व्यवस्था के कठोर विधान ने तुलसी जैसे भूमिहीन, अर्थहीन, रोजगार विहीन 'ब्राह्मण बालक' के लिए जीविका हेतु भिक्षाटन के अलावा किसी दूसरे धंधे का प्रावधान ही नहीं किया था। भिक्षाटन के लिए विवश दलित जनों की पीड़ा को जितनी गहराई में जाकर अपने अर्जित अनुभवों के आधार पर तुलसी ने अपने काव्य में अभिव्यक्त किया है, उस तरह कोई भक्त कवि नहीं कर सका है, चाहे वह निर्गुण पंथ का हो या सगुण पंथ का। इसे लक्ष्य करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने सही संकेत किया है- ''दैन्यभाव जिस उत्कर्ष को गोस्वामी जी में पहुंचा है, वह उत्कर्ष और किसी

भक्त कवि में नहीं है"[7] 'दुख ही जीवन की कथा रही' यह 'तुलसीदास' के रचनाकार निराला के संबंध में जितना सच है, उतना ही सच व्यक्ति तुलसी के संबंध में भी है।

कहा जाता है कि 'अपने दिल से जानिए पराये दिल का हाल' या 'जाके पॉव न फटे बेवाई सो क्या जाने पीर पराई'। तुलसी ने निजी जीवन में दैन्य, अभाव, अपमान की जो यातना झेली थी, उसने तमाम वैसे लोगों की उनकी संवेदनशीलता का पात्र बनाया जिन्होंने दलन, दमन, उपेक्षा, तिरस्कार के दंश को झेला था। ऐसे जन ही तुलसी के राम के प्रिय पात्र हो सके। यही कारण है कि वे अपने अनेक पदों में ऐसे रामप्रिय पात्रों का सहानुभूति, समादर के साथ स्मरण करते हुए दिखाई देते हैं, यथा-

(क) मैं हरि पतित-पावन सुने।
मैं पतित तुम पतित-पावन दोउ बानक बने।।
ब्याध गनिका गज अजामिल साखि निगमनि भने।
और अधम अनेक तारे जात कापै गने।।[8]

(ख) ऐसे को उदार जग माहीं।
बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं।।
जो गति जोग बिराग जतन करि नहिं पावत मुनि ग्यानी।
सो गति देत गीध सबरी कहँ प्रभु न बहुत जिय जानी।।[9]

(ग) रघुबर! रावरि यहै बड़ाई।
निदरि गनी आदर गरीब पर, करत कृपा अधिकाई।।
थके देव साधन करि सब, सपनेहु नहिं देत दिखाई।
केवट कुटिल भालु कपि कौनप, कियो सकल सँग भाई।।
मिलि मुनिबृंद फिरत दंडक बन, सो चरचौ न चलाई।
बारहि बार गीध सबरी की बरनत प्रीति सुहाई।।[10]

(घ) ऐसे राम दीन-हितकारी।
अतिकोमल करूणानिधान बिनु कारन पर उपकारी।।
साधन-हीन दीन निज अघ-बस, सिला भई मुनि-नारी।
गृहतें गवनि परसिपद पावन घोर सापतें तारी।।
हिंसारत निषाद तामस बपु, पशु-समान बनचारी।
भेंट्यों हृदय लगाइ प्रेमबस, नहिं कुल जाति बिचारी।।[11]

(ड.) सोई सुकृती, सुचि सॉचों जाहिराम! तुम रीझे।
गनिका, गीध, बधिक हरिपुर गये, लै कासी प्रयाग कब सीझे।।

गजधौं कौन दिछित, जाके सुमिरत लै सुनाभ बाहन तजि धाये।
सुर-मुनि-बिप्र बिहाय बड़े कुल, गोकुल जनम गोपगृह लींन्हों।
बायों दियो बिभव कुरूपति को, भोजन जाई बिदुर घर कीन्हों।12

इन उपर्युक्त पदों से साफ है कि तुलसी के लिए राम ईश्वर या प्रभु का महत्व इसलिए है कि वे व्याध, गनिका गीध, केवट जैसे अधम समझे जाने वाले प्राणियों को गले लगाने वाले हैं, उन्हें अपने आत्मीयता का पात्र बनाकर मनुष्यत्व के आसन पर प्रतिष्ठित करने वाले हैं। उन्हें प्राप्त करने के लिए नाना कठिन साधनाओं, मार्गों का अवलम्बन करने वाले ऋषियों, योगियों, मुनियों से अधिक प्रिय उन्हें ये तथाकथित अधम जन ही है। 'वेश्या पहने खासा है', से कबीर चिढ़ते हैं, लेकिन इस वेश्या को (गनिका) शुचिताच्युत अहिल्या को अपनी आत्मीयता से सराबोर करने वाले कृपालु, करूणा सागर राम को तुलसी सराहते हैं। वे राजा-महाराजा के एश्वर्य, वर्ण-कुल की श्रेष्ठता को ठोकर मारकर विदुर के घर साग-पात खाने वाले, केवट को गले लगाने वाले, शापित, तिरस्कृत अहिल्या को अपने सान्निध्य से पुन: प्रतिष्ठा दिलाने वाले हैं, उनकी ही रक्षा करने वाले हैं और राम का यही चरित्र तुलसी को उनका अनन्य अनुरागी बनाता है। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि जब राम वन में जगह-जगह पर अस्थि समूह देखते हैं, तो करूणा-विगलित होकर पूछ बैठते हैं-

"अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्हलागि अति दाया।।"

यह पता चलने पर कि 'निसिचर निकर सकल मुनि खाए, सुनि रघुवीर नयन जल छाए', तब राम वन में निसाचरों के अत्याचार से त्रस्त, उत्पीड़ित वनवासी मुनियों के हितार्थ यह प्रतिज्ञा करते हैं-

"निसिचर हीन करउँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह।।13

ऐसे हैं तुलसी के राम जिन्हें अमीर, राजा, नवाब, सेठ, ओहदेधारी प्रिय नहीं है, प्रिय वे हैं जो गरीबी, अभाव दीनता, जुल्म के जुए तले पिसे जा रहे हैं। यही कारण है कि वे राम को बार-बार दीनबंधु, गरीब निवाज आदि संज्ञाओं से संबोधित करते हैं-

"अकारण को हितु और को है।
बिरद 'गरीबी-निवाज' कौन को, भौंह जासु जन जौहे।।
छोटो-बड़ो चहत सब स्वारथ, जो बिरंचि बिरचो है।
कोल कुटिल कपि-भालु पालिबो कौन कृपालुहि सोहै।। 14

तुलसी के लेखे इस राम जैसा दूसरा दीनबंधु कौन है-

"दीनबंधु दूसरो कहँ पावों?

को तुम बिनु पर पीर पाइ है? केहि दीनता सुनावों।। 15

दीनों, दुखियारों, पतितों के प्रति राम की सह्रदयता, दयालुता की बात जानकर ही तुलसी अपनी दीनता, अधमता से परित्राण के लिए राम से गुहार लगाते हैं-

"तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।

हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पाप-पुंज-हारी।।

नाथ तू अनाथ को, अनाथ कौन मोसो।

मो समान आरत नहिं, आरतिहर तोसो।।

ब्रह्म तू, हौं जीव, तू है ठाकुर, हौं चेरो।

तात-मात, गुरू-सखा, तू सब विधि हितु मेरो।"16

इन पदों को पढ़ते हुए जो सच उभरकर सामने आता है वह यह कि अभिजन-समाज द्वारा पददलित, वंचित, शोषित, उपेक्षित बनाकर समाज के हाशिए पर रखे गये सामान्य जनों के दु:ख-दर्द, पीड़ा को वाणी प्रदान करने में कवि कोविद तुलसी ने कोई कोताही नहीं की है। इस लिहाज से उनकी पूरी विनय पत्रिका दलित-पीड़ा का करूण महाकाव्य है। है तो यह सब पौराणिक आख्यान, किन्तु इनके माध्यम से तुलसी ने राम के उस चरित्र स्वरूप को सामने रखा है, जो सत्ताधारी ओहदेधारी, सम्पत्तिधारी शोषकों, स्वेच्छाचारियों के मुकाबले दलित, दमित, दरिद्र जनों के लिए करूणा-सागर हैं, दयानिधान एवं हितकारी हैं। उन्हें राम प्रिय हैं ऐसे लौकिक प्राणियों के लिए मंगलकारी होने के नाते, न कि लीलाबिहारी, बाँकेबिहारी होने, या शून्य-महल में निवास करने के कारण। ऐसे सर्वहारा जनों के प्रति राम की विराट भक्त- वत्सलता का बखान करके तुलसी ने अपनी दलित पक्षधरता का पुष्ट प्रमाण दिया है, इसे ईमानदारी से और पूर्वग्रह मुक्त होकर स्वीकार करने में कोई मति भ्रम नहीं होना चाहिए।

यह तो हुई पौराणिक साहित्य में वर्णित दलित प्राणियों के प्रति तुलसी की संवेदनशीलता जिसे उनकी अतीतोन्मुखता या पुराण-प्रेम भी कहा जा सकता है और समकालीन दलित-यथार्थ से विमुखता समझा जा सकता है। लेकिन ऐसा समझना उनकी दलित-संवेदना की अधूरी समझ होगी। तुलसी अपने वर्तमान से भी गहरे रूप से जुड़े हैं और अपने समकालीन समाज में विद्यमान अभाव, दैन्य, दमन, उत्पीड़न की दलितकारी परिस्थितियों का बड़ा ही यथार्थपरक चित्रण अपने काव्य में करते हैं। अपनी अनुभवजन्य पीड़ा के तार वे अन्य पीडित प्राणियों से जोड़ते हुए उनके कल्याण की गुहार लगाते हैं अपने अनन्य आराध्य श्री राम से।

उनके समय के साधारण-किसान, मजूर, नट, बनिक आदि कैसे पेट की आग से दग्ध, जीविका की समस्या से संत्रस्त थे, इसका बड़ा ही मार्मिक, यथार्थपरक चित्र उनकी ऐसी कविताओं में मिलता है-

"किसबी, किसान-कुल, बनिक, भिखारी, भाट,
चाकर, चपल नट, चोर चार चेटकी।
पेटको पढ़त, गुन गढ़त, चढ़त गिरि,
अटत गहन-गन अहन अखेटकी।।
ऊँचे-नीचे करम, धरम-अधरम करि,
पेट ही को पचत, बेचत, बेटा-बेटकी।
'तुलसी' बुझाइ एक राम घनस्याम ही तें,
आगि बड़वागितें बड़ी है आग पेट की।" 17

पेट की आग बड़वागिन से भी बड़ी है जिसे तुलसी ने खुद भोग कर तो जाना ही था, अपने समाज में श्रमजीवी, किसान, व्यापारी, भिखारी, भाट, सेवक, चंचल नट चोर, दूत, बाजीगर आदि के जीविकोपार्जन हेतु नाना कष्टसाध्य कर्म देखकर भी जाना था। पेट के लिए पढ़ते पर्वतों पर चढ़ने, मृगया करने, ऊँचे-नीचे कर्म तथा धर्म-अधर्म करते लोगों को देखा था और पेट ही के लिए बेटा-बेटी तक को बेचते देखा था। जिस समाज में जिसे पेट के लिए बेटा-बेटी तक बेचने को विवश होना पड़ा, उसमें ऐसे लोगों से अधिक दलित कौन हो सकता? इस दलित समाज का एक और चित्र पेश है-

"खेती न किसान को, भिखारी को न भीख, बलि,
बनिक को बनिज, न चाकर को चाकरी।
जीविका विहीन लोग सीयमान सोच बस,
कहैं एक एकन सों 'कहाँ जाई, का करी?
बेदहूँ पुरान कही, लोकहूँ बिलोकिअत,
साँकरे सबै पै, राम! रावरें कृपा करी।
दारिद दसानन दबाई दुनी, दीनबंधु।
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।"18

यह है तुलसी के समय के समाज का एक और चित्र-किसानों की खेती नहीं होती, भिखारी को भीख नहीं मिलती। जाहिर है जब खेती ही नहीं हो पायेगी तब भीख कहाँ से मयस्सर होगी। बनियों का व्यापार नहीं चलता और नौकरी करने वालों को नौकरी का टोटा पड़ गया है। जीविका विहीन होने के कारण कहाँ जाएं और क्या करें की किंकर्त्तव्यविमूढता की स्थिति है। तुलसी ने त्रेताकाल में

अत्याचार करने वाले रावण-दशानन को नहीं देखा था, लेकिन अपने समय में दशों दिशाओं में आच्छादित दरिद्रता के रूप में वे दशानन को देख रहे हैं। जब पूरी दुनिया, पूरा समाज ही दारिद्रय का शिकार हो जाए, तब मानना पड़ेगा कि कोई वर्ग या वर्ण या समुदाय विशेष नहीं, अपितु पूरा समाज ही दलित दशा का शिकार हो चुका है। अपने समय के पूरे समाज में व्याप्त इस दलित दशा का मार्मिक चित्रण करने में तुलसी की बराबरी कोई भक्तिकालीन कवि करते नहीं दिखाई देता।

सचमुच, तुलसी ने बेरोजगारी, भूख की आग, खेती-व्यापार पर संकट, नट, चाकर, भिखारी आदि की दीनता आदि का जो चित्रण किया है, उसे देखते हुए उन्हें दलित-पक्षधरता का कवि क्यों न कहा जाए? अफसोस कि तुलसी को केवल ब्राह्मणवादी चश्मे से देखने वाले समीक्षकों का ध्यान सिर्फ इस बात पर अटक कर रह जाता है कि मध्यकाल में जिस तरह व्यापार उद्योग के क्षेत्रों में उन्नति होने के कारण समाज की मुख्यधारा में गैर ब्राह्मण जातियों का महत्व प्रतिष्ठित हो रहा था, उससे विचलित होते हुए तुलसी बार-बार 'कलिकाल' वर्णन के बहाने वर्ण-व्यवस्था में आ रही शिथिलता के प्रति अपना विलाप प्रकट कर रहे थे। ऐसा आरोप तुलसी पर पहले भी लगाया गया है। टटके प्रमाण के रूप में 'अकथ कहानी प्रेम की...' पुस्तक के लेखक डॉ. पुरूषोत्तम अग्रवाल का यह वक्तव्य देखा जा सकता है- "तुलसीदास का कलिकाल वर्णन बताता है कि उनके समय में व्यापार के कारण नई जातियाँ बन रहीं हैं। वर्ण-व्यवस्था को चुनौती मिल रही है। नवोदित जातियों को उनकी आर्थिक ताकत के आधार पर "उच्च" मानने के लिए वर्ण-व्यवस्था के समर्थक विवश हैं। विवश वे तलवार की ताकत वालों को 'क्षत्रिय मानने के लिए भी हैं-भले ही कल तक उन्हें 'निम्न कुलोत्पन्न' मानते रहे। विवश वे 'वर्णाश्रम-बाह्य' आदिवासियों-गोंडों को सफल राजा बनते देखने के लिए भी हैं। विवश वे शूद्रो को गुरू के रूप में समादृत देखने के लिए भी हैं और ऐसी बहु-आयामी विवशता को ही वे 'कलियुग' नाम दे रहे हैं। व्यापार के विकास का वह समय उन्हें धर्म की हानि का समय दिख रहा है, जिसमें शूद्र ब्राह्मणों को डांट रहे हैं, स्त्रियाँ पुरूषों से जिरह करने की हिम्मत कर रही हैं, और आदिवासी गोंड छत्रधारी राजा बन रहे हैं।"[19] मध्यकाल की इस व्यापारिक उन्नति से विमुग्ध इसी पुस्तक की पृष्ठ संख्या 412 पर फिर तुलसी पर कटाक्ष करते हैं- "पूजिअ बिप्र सील गुन हीना। सूद न गुन गन ज्ञान प्रवीना" इसे क्या कहेंगे। यह दस्तकारों, व्यापारियों की उन्नति से चिढ़े चित्त से जन्मी उलटबाँसी है।"

यह विश्लेषण सिक्के का एक पहलू ही दर्शाता है-यह निष्पक्ष, समग्र

सत्य-शोधक के बजाय व्यापारी वर्ग के एक प्रतिनिधि-प्रवक्ता का कथन अधिक प्रतीत होता है। यह मान लेना कि मध्यकाल में व्यापार, दस्तकारी में हो रही उन्नति के कारण समाज के अन्य क्षेत्रों में कोई दलित, दमित, वंचित, भूखा नहीं रह गया था, इतिहास का एक तरफा अवलोकन होगा। अगर व्यापारिक उन्नति से समाज में हो रहे बदलाव के फलस्वरूप 'नई जातियाँ बन रही थीं, वर्ण-व्यवस्था को चुनौती मिल रही थी, तो यह भी सच है कि बहुत सारी पुरानी जातियों के लोग इस परिवर्तन या फिर राजसत्ताधारियों के मनमानेपन के कारण बेरोजगारी, खेती का संकट, पेट की आग जैसी भीषण समस्याओं का भी सामना कर रहे थे जिसके चित्र तुलसी की पूर्वोक्त कविताओं में मिलते हैं। इस सत्य को समझने के लिए हम वर्तमान परिदृश्य के साथ इसकी तुलना कर सकते हैं।

आज भूमंडलीकरण, उद्योगीकरण, शहरीकरण, बहुमुखी विकास का अभियान जोरों पर है, नये उभरे औद्योगिक घराने, भवन-निर्माता, टेक्नोक्रेट आदि चमकते हुए 'शाइनिंग इंडिया' का आभास दे रहे हैं। किन्तु तस्वीर का दूसरा पहलू यह है कि कल कारखानों, बांधों, हाईवे, एक्सप्रेस वे आदि के लिए बड़ी संख्या में किसानों, जनजातियों को खेती, पुश्तैनी आवास एवं उद्योग से बेदखल कर उनका निर्मम दलन किया जा रहा है। किसानों द्वारा की जाने वाली आत्महत्याएँ, विस्थापित जनों द्वारा किये जाने वाले आंदोलन क्या विकास के दावे पर प्रश्न चिन्ह नहीं है? बड़े-बड़े मॉलों के बनने से छोटे-छोटे दुकानदार रोजगारविहीन हो रहे हैं। जूता, धातु, बर्तन, कपड़े, लौह एवं काष्ठ सामाग्रियों आदि के उत्पादन के लिए बड़े-बड़े उद्योगों के स्थापित होते जाने से चर्मकार, ठठेर, बुनकर, कुम्हार, बढ़ई, लोहार आदि सभी अपने पुश्तैनी पारम्परिक धंधों के चौपट होते जाने की समस्या झेल रहे हैं और ये सब धंधेविहीन होकर नये रोजगार के लिए खाड़ी देशों या मुम्बई, दिल्ली जैसे शहरों में पनाह लेने को मजबूर हो रहे हैं। अब ऐसी वास्तविकताओं का वर्णन करने वाला लेखक-कवि प्रगति विरोधी, जन विरोधी कहा जाएगा या जमीनी सच्चाईयों का साक्षात्कार कराने वाला यह सोचने-समझने की बात है। यह देखते हुए मानना पड़ता है कि मध्यकाल में व्यापार, दस्तकारी के क्षेत्रों में हुई उन्नति से बनी नई जातियों के कवियों ने भले ही ब्राह्मणवाद, वर्ण व्यवस्था को अपने काव्य सृजन से चुनौती दी हो, किन्तु उसी समय पारम्परिक धंधों से जुड़े जो बेशुमार लोग जीविका विहीन होकर दलित, दमित, वंचित का जीवन जीने को विवश हो गये थे, वे उन कवियों के सरोकार के विषय बनने से अछूते रह गये। इस लिहाज से तुलसी ने अपनी व्यापक यथार्थ पकड़ चेतना का परिचय देते हुए ऐसे वंचितों की जीवन-दशा को भी अपने काव्य में स्थान दिया,

यह स्वीकार करना ही पड़ेगा।

तुलसी के दलित-सरोकारों का एक अन्य अत्यन्त उल्लेखनीय आयाम है वनवासियों-आदिवासियों की जीवन-दशा का चित्रण। वैसे वनवासियों की जीवन-कथा हमारे 'रामायण', 'महाभारत' जैसे प्राचीन महाकाव्यों की कथाओं का अभिन्न और महत्वपूर्ण अंग रही है। यह वनवासी जीवन भक्तिकाल की प्रखर सामाजिक और विद्रोही चेतना की अभिव्यक्ति करने वाले कवियों की पकड़ में नहीं आ सका। इन वनवासियों के संबंध में दलित चेतना के कवि कहे जाने वाले न कबीर, रैदास आदि के यहाँ कोई चर्चा है, न आधुनिक दलित चेतना के मसीहा कहे जाने वाले डॉ. अंबेडकर ने इन्हें अपने दलित-एजेण्डा में शामिल किया, न अब के दलित विमर्शवादी बौद्धिक इन्हें अपने विमर्श का सरोकार बनाते हैं। किन्तु मध्यकालीन कवियों में तुलसीदास एकमात्र ऐसे कवि हैं जिनकी दृष्टि इन वनवासियों की दुर्दशा पर गई है और वे उनके दैन्य, अभाव, दारूण दशा का बड़ा ही मार्मिक चित्र 'रामचरित मानस' के अयोध्याकांड में देते हैं।

उल्लेखनीय है राम सीता और लक्ष्मण सहित चित्रकूट में निवास करने लगते हैं तब भरत सकल अयोध्यावासियों के साथ राम को वापस लाने के लिए चित्रकूट पहुँचते हैं। वहाँ पर रहने वाले वनवासी राम से अच्छी तरह घुल-मिल कर उनके सुख-दु:ख के साथी बन गये हैं, राम के सान्निध्य में उन्हें स्वर्गिक सुख की अनुभूति होती है। जब उनके इतने प्रिय राम के आत्मीय जन वहाँ पहुँचते हैं तब वे सारे वनवासी इसे अपना परम सौभाग्य समझते हुए उनके स्वागत-सत्कार में जुट जाते हैं। उनके पास कंदमूल, फल, मधु आदि जो उपलब्ध है उसी से अयोध्यावासियों का स्वागत तो करते हैं, लेकिन उन्हें अपनी उस दीन दशा को लेकर आत्मग्लानि भी है कि वे नगरवासियों का यथोचित ढंग से स्वागत नहीं कर पा रहे हैं। इस आत्मग्लानि को जिन शब्दों में तुलसी व्यक्त करते हैं वह देखने लायक है-

"तुम्ह प्रिय पाहुने बन पगुधारे। सेवा जोग न भाग हमारे।।
देब काह हम तुम्हहि गोसाँई। ईंधन पात किरात मिताई।।
यह हमार अति बडि सेवकाई। लेहिं न बासन बसन चोराई।।
हम जड़ जीव जीव गन घाती। कुटिल कुचाली कुमति कुजाती।।
पाप करत निसि बासर जाहीं। नहिं पट कटि नहिं पेट अघाहीं।।
सपनेहुँ धरमबुद्धि कस काऊ। यह रघुनंदन दरस प्रभाऊ।।"

यह है तुलसी के समय के वनवासियों की जीवन-दशा का चित्र उनके पास सम्पत्ति के नाम पर सिर्फ लकड़ी-जलावन और पत्ते हैं, दिन रात पाप-कर्म

करने को मजबूर, फिर भी न भरपेट खाना मयस्सर है, न कमर तक भी शरीर को ढकने को कपड़े। सम्भ्रांत समाज की नजर में वे जड़, जीवों की हत्या करने वाले, कुटिल, कुचाली, कुमति, कुजाती समझे जाते हैं। अब जो मध्यकाल की गवेषणा करने वाले प्रतिभाधर आदिवासी-गोंडों को सफल राजा बनते देख कर मुग्ध हैं और इससे वे तुलसी को चिढ़ते हुए देखते हैं, वे तुलसी द्वारा आदिवासी-समूह के इस दैन्य, अभाव, बदहाली भरे जीवन के चित्रण के संबंध में किस तरह का प्रमाण-पत्र देंगे? वस्तुत: चंद लोगों के धनवान या सत्तासीन हो जाने की तुलना में वे असंख्य जन तुलसी की संवेदना के पात्र हैं जो धनवानों एवं सत्तासीनों के वर्चस्व तले रौंदे जा रहे थे चाहे वो किसान हों या फिर नट, बाजीगर या वनवासी। आज भी कुछेक लोग 'दलित' होने का प्रमाण-पत्र लिये सत्ता, पद, धन के संसार में प्रवेश कर चुके हैं, बावजूद उसी समुदाय के बेशुमार जन सत्ता, पद, धन से कोसों दूर रह कर दलित-दशा को झेल रहे हैं, हो रहे विकास के लाभ से ये वंचित हैं। तुलसी भी अपने समय के ऐसे सामान्य जनों के दैन्य, बेबसी, भुखमरी, प्रतिष्ठाहीनता का चित्रण कर उस समय के व्यापार तंत्र एवं राजसत्ता द्वारा किये जा रहे उन्नति के दावों का पोल खोल कर रख देते हैं जो उनके व्यापक, गहरे दलित-सरोकार का प्रमाण है।

अब तुलसी की दलित-पक्षधरता के इस आयाम के संबंध में कोई यह तर्क दे सकता है कि वनवासी प्रसंग तो रामकथा का अभिन्न अंग है, इसलिए उसका समावेश करने को तुलसी बाध्य थे। किन्तु ध्यान रहे, रामकथा के अभिन्न अंग तो सीता-निष्कासन और शम्बूक-बध जैसे प्रसंग भी रहे हैं, किन्तु तुलसी की प्रगतिशील चेतना ने उन प्रसंगों का 'मानस' में समावेश नहीं किया। वे चाहते तो वनवासियों की जीवन-दशा का भी चित्रण छोड़ सकते थे परन्तु, उन्होंने वनवासियों का यथार्थ चित्र रखा तो मानना पड़ेगा कि यह उनकी कवि-सुलभ मानवीय संवेदनशीलता, दलित पक्षधरता का परिणाम है। तुलसी के कवि-कर्म के इस पक्ष के महत्व को उजागर, करते हुए डॉ. रामविलास शर्मा ने वाजिब टिप्पणी की है- "जब राम चित्रकूट पहुँचते हैं, तब तुलसीदास कोल-किरातों को नहीं भूलते- 'यह सुधि कोल-किरातन्हें पाई। हरषे जनु नव निधि घर आई।' बीस पंक्तियों में राम से भेंट का वर्णन करने के बाद तुलसी यह टिप्पणी देते हैं- रामहिं केवल प्रेम पियारा। जानि लेउ जो जान निहारा। जब आप याद करेंगे मुगल बादशाहों के जमाने में इन कोल-किरातों का आखेट होता था और जो पकड़े जाते थे, वे काबुल में बेच दिये जाते थे और ब्रिटिश साम्राज्यवाद के शासन में लाखों की तादाद में इन्हें जरायमपेशा करार दिया गया, तब तुलसी की प्रगतिशीलता समझ में

आयेगी।"[20] इन बातों को ध्यान में रखते हुए यह मानने में संदेह नहीं रहना चाहिए कि एकाध आदिवासी गोडों के राजा बन जाने से तुलसी चमत्कृत विमुग्ध होने वाले नहीं थे, बल्कि वनों में निवास करने वाले कोल-किरात-भिल्ल जैसे वनवासियों की दारूण-दशा पर ध्यान देने वाले थे और इनका कल्याण वे समकालीन अर्थ तंत्र एवं राज तंत्र में नहीं, बल्कि राज जैसे जन कल्याणकारी शासक के हाथों संभव देख रहे थे।

वर्तमान दलित विमर्श का एक महत्वपूर्ण मुद्दा बन बैठा है, आधी आबादी यानी स्त्री जाति की दशा-दुर्दशा का जिक्र। स्त्रियों के साथ बरती जा रही सामाजिक, राजनीतिक गैर बराबरी, आर्थिक पराधीनता आदि के विरोध में विश्व के कई देशों में आंदोलन उन्नीसवीं सदी से ही होते रहे हैं। इनसे भारत भी अछूता नहीं रहा। समाज में सदियों से विद्यमान स्त्रियों के दोयम दर्जे, उनकी उपेक्षित एवं दलित जीवन-दशा की तरफ ध्यान दिया जाना अत्यन्त वांछनीय ही कहा जाएगा। आधुनिक युग के इस कार्य को मध्यकाल में तुलसीदास अंजाम देते हुए दिखाई देते है। कोई आंदोलन तो नहीं किया, किन्तु स्त्री जाति की दलित दशा का पर्याप्त वर्णन तुलसी अपने काव्य-जगत में करते हैं। वैसे सतही, सपाट तौर पर तुलसी को नारी निंदक के रूप में पेश करना आधुनिक प्रगतिशीलता का एक चलताऊ फैशन बन गया है, जबकि सत्य इस के विपरीत है। तुलसी के समाज में स्त्रियों की पराधीन स्थिति, उन्हें जाहिल, गंवार समझने की जो पुरूष-मनोवृत्ति व्याप्त थी, उसका बड़ा यथार्थ चित्रण करने में तुलसी ने कोई कृपणता नहीं की है, परन्तु दुर्भाग्यवश उनके इन यथार्थ-चित्रों को उनकी निजी विचारधारा समझ कर उन पर नारी-निंदक या स्त्री-विरोधी होने का आरोप मढ़ दिया जाता है।

वैसे तुलसी के स्त्री संबंधी विपुल विचारों को देखने के लिए विशद विवेचन की अपेक्षा है, किन्तु यहाँ पर हम संक्षेप में उनके इस पक्ष पर दृष्टिपात करके उनके दलित विमर्श को पूर्णता प्रदान करने का प्रयास करेंगे।

स्त्री-जाति की पराधीनता तुलसी को बहुत चुभती है। इस संबंध में 'मानस' की यह चौपाई बहुत ही मशहूर है- "कत विधि सृजी नारी जग माहीं। पराधीन सपनेहुँ सुख नाहीं।" सचमुच जो पराधीन है, उसे स्वप्न में भी सुख नहीं, और जिसे सुख सुलभ नहीं वह दलित नहीं तो क्या है? प्रसिद्ध समाजवादी चिंतक डॉ. राममनोहर लोहिया की दृष्टि में तुलसी की इस चौपाई में 'सारे संसार की नारी-हृदय की चीख हैं, तो दूसरी तरफ मार्क्सवादी समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा का मानना है कि "एक तरफ पति-सेवा का उपदेश, दूसरी तरफ पराधीन नारी के

लिए स्वप्न में भी सुख न मिलने पर क्षोभ, यह कला तुलसीदास को छोड़कर और कहीं नहीं है।"

तुलसी के समय में पुरूष-प्रधान समाज ने स्त्री-जाति की कितनी गर्हित छवि बना रखी थी, उसका एक चित्र राम-शबरी के कथा-प्रसंग में मिलता है। अपने आश्रम में पधारे अपने आराध्य श्री राम के स्वागत में भाव-विह्वल होकर शबरी कहती हैं-

"केहि बिधि अस्तुति करौं तुम्हारी। अधम जाति मैं जड़मति भारी।
अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।।

ध्यातव्य है कि जिस तरह अयोध्यावासियों के सामने वनवासी कोल, किरात, भिल्ल अपने को 'हम जड़ जीव-जीव गन घाती, कुटिल कुचाली कुमति कुजाती' कहकर अपने संबंध में सम्भ्रांत समाज द्वारा फैलाई गई दूषित मान्यता का पर्दाफाश करते हैं, ठीक उसी अंदाज में शबरी भी इस कथन द्वारा स्त्री जाति के संबंध में पुरूष-समाज द्वारा प्रचारित ऐसी जघन्य धारणा को सामने रखती है। शबरी का यह कथन दर्पण है उस समय के समाज में विद्यमान स्त्री-जाति की दलित दशा का, न कि यह तुलसी का निजी विचार है स्त्री जाति के संबंध में। स्त्रियों के संबंध में इसी तरह की जड़, सड़ी-गली सामाजिक मान्यता का एक और दर्पण तुलसीदास रखते हैं इस चौपाई के रूप में- "ढोल गंवार शुद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।" इस चौपाई के सहारे अब तक बड़े-बड़े विद्वान भी यह अर्थ करते रहे हैं कि तुलसी खुद ढोल, गंवार, शुद्र की तरह स्त्री को भी ताड़ना का अधिकारी मानते हैं। लेकिन इस चौपाई से जुड़े पूरे संदर्भ को ध्यान में रखें, तो पता चलेगा कि यह अर्थ के नाम पर बहुत बड़ा अनर्थ होता रहा है।

'मानस' अध्येता इस तथ्य से अच्छी तरह अवगत है कि यह कथन समुद्र का है। जब राम तीन दिनों तक समुद्र से लंका जाने का मार्ग देने हेतु अनुनय-विनय करके थक जाते हैं तब वे क्रुद्ध होकर समुद्र को सूखा डालने के लिए धनुष पर अग्नि बाण का संधान करने को तत्पर होते हैं। इस भयावह स्थिति से निबटने के लिए समुद्र साक्षात मनुष्य रूप में प्रकट होकर जो कुछ कहता है वह गौरतलब है-

"समय सिंधु गहि पद प्रभु केरे। छमहु नाथ सब अवगुन मेरे।।
गगन समीर अनल जल धरनी। इन्ह कॅह नाथ सहज जड़ करनी।।
तव प्रेरित मायाँ उपजाए। सृष्टि हेतु सब ग्रंथिन गाए।।
प्रभु आयसु जेहि कहँ जस अहई। सो तेहिं भॉति रहें सुख लहई।।
ढोल गंवार शुद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।"

गौर करें तो प्रकारान्तर से समुद्र खुद से लेकर गगन, समीर, अनल, जल, धरती के साथ-साथ ढोल गंवार, शूद्र, पशु, नारी के संबंध में ग्रथों (सब ग्रंथिन गाए) द्वारा गढी गई कि ये सब जड़ हैं, इसलिए ताड़ना के अधिकारी हैं, जैसी मान्यता को व्यथा भरे स्वर में व्यक्त करता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'लघु शब्द सागर' में ताड़ना के अर्थ बताये गये हैं- प्रहार, मार, डांट-डपट, शासन, उत्पीड़न, कष्ट। इन अर्थो के परिप्रेक्ष्य में समुद्र का पूरा वक्तव्य समाज की उस निष्ठुरता को अनावृत करता है जिसने इन सभी पात्रों के लिए प्रेम, स्नेह, सौहार्द के बजाय सिर्फ प्रहार, डांट-फटकार, उत्पीड़न का विधान बना रखा था। दूसरी चीज यह कि इसमें व्यंग्योक्ति भी है। ढोल तो पिटे जाने के लिए ही बनता है लेकिन गंवार, शूद्र और स्त्री जैसे मानव प्राणियों के साथ भी ढोल को पिटने जैसा सलूक किया जाए, यह सभ्य समाज के माथे पर कलंक ही तो है- इस चौपाई का यही व्यंग्यार्थ है। स्पष्टत: जो सिर्फ ताड़ना, दण्ड का पात्र समझा जाए, अधम समझा जाए, पराधीन बना कर रखा जाए- चाहें वह शूद्र हो या गवॉर या स्त्री, दलित नहीं तो क्या है? इस चौपाई में न शूद्र को, न ही स्त्री को तुलसी की तरफ से 'ताड़ना का अधिकारी' बताया गया है, बल्कि समाज में उनके द्वारा उत्पीडित, दलित के रूप में जिये जाने वाली जीवन दशा को, उनके संबंध में प्रचलित ऐसी गर्हित मान्यता को दर्शाया गया है। यह समाज की वस्तुस्थिति का अंकन है, न कि तुलसी का निजी विचार। किन्तु दुर्भाग्यवश पूरे संदर्भ को ध्यान में रखे बिना इसे तुलसी का निजी दृष्टिकोण समझ लिया जाता है जो सर्वथा भ्रामक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी के काव्य में दलित का दायरा बहुत विस्तृत बहुआयामी है। उनके लिए शूद्र जरूर दलित हैं, लेकिन इस दलित समुदाय में सिर्फ वे ही नहीं है। विवेचन के आरम्भ में दलित संबंधी जिन लक्षणों का उल्लेख किया गया है, उनके आलोक में तुलसीदास व्यापक दलित सरोकारों के कवि, चितेरे सिद्ध होते हैं। तुलसी-काव्य में वे सभी स्त्री, पुरूष, किसान, मजदूर, चाकर, नट, बाजीगर, गनिका, कोल-किरात-भिल्ल, जो दैन्य, पेट की आग, शोषण, दमन, अपमान, अधमता, उत्पीड़न के शिकार हैं, दलित हैं। दलित जनों की इसी पीड़ा ने ही तुलसी को 'रामराज्य' का आदर्श प्रस्तुत करने को प्रेरित किया जिसमें दारिद्रय रूपी दशानन के उत्पीड़न का कोई प्रकोप न हो। अस्पृश्यता के दंश के भुक्तभोगी निर्गुण कवि जातिविहीन समाज देखना चाहते थे तो खुद दरिद्रता की आंच में झुलसे तुलसी पूरे समाज को दरिद्रता की ज्वाला से मुक्त होते देखना चाहते थे। स्पष्टत: निर्गुनियों की दलित संवेदना अपनी जात विशेष

तक केन्द्रित थी, तुलसी की यह संवेदना दरिद्रता के पंजों में जकड़े पूरे समाज के लिए भी उनके राम इस प्रकार के समस्त दलित लोगों के सहयोग से दमन, दलन, उत्पीड़न का नंगा नाच करने वाले रावण एवं उसके सहयोगियों का सफाया कर सर्वहितकारी रामराज्य की स्थापना करने में सफल होते हैं। आधुनिक युग में महात्मा गांधी ने भी औपनिवेशिक दासता के जुए तले भारतवर्ष के दलित, दमित होते समस्त साधारण जनों को संगठित कर रावण-राज्य सदृश्य ब्रिटिश राज को अपदस्थ करने का कार्य किया।

इसे देखते हुए यह निवेदन अपेक्षित जान पड़ता है कि आज सिर्फ अस्पृश्यता का दंश भोगने वालों तक दलित-विमर्श को सीमित कर देने वालों को इस एकांगीपन से मुक्त होकर समाज के अन्य दलित जनों के साथ अपने को जोड़ते हुए दलित-दायरे को विस्तृत करना होगा तभी वे अन्याय, शोषण, दमन, अभाव, गैर बराबरी आदि के विरूद्ध किये जा रहे संघर्ष को व्यापक बनाते हुए कामयाबी की मंजिल तक पहुँच सकते हैं। इसकी तार्किक परिणति के रूप में साहित्य में भी दलित चिंतन का दायरा व्यापक करना होगा। हाल-फिलहाल दलित लेखक के रूप में चर्चित डॉ. तुलसी राम ने दिल्ली की एक गोष्ठी में मार्के की बात कही कि "वंचितों के शोषण के खिलाफ जो भी लिखा जा रहा हैं, वह दलित साहित्य है।" (जनसत्ता, 26 जून 2011) इस सत्य को स्वीकारें, तो सचमुच तुलसी ने वंचितों के शोषण के खिलाफ जितना लिखा है, वह दलित चेतना से संपन्न साहित्य का सिरमौर है।

संदर्भ-ग्रंथ

1. दलित-देवो भव, पृ. VII-VIII, प्र. प्रकाशन विभाग, सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली, संस्करण 2005।
2. कवितावली, उत्तर कांड पद सं. 57, गीता प्रेस गोरखपुर।
3. उप. पद सं. 72
4. उप. पद सं. 73
5. विनय पत्रिका, पद सं. 75, गीता प्रेस गोरखपुर।
6. उप. पद सं. 276
7. गोस्वामी तुलसीदास, पृ. 70, काशी नागरी प्रचारिणी सभा। द्वादश संस्करण
8. विनय पत्रिका, पद सं. 160
9. उप. पद सं. 162
10. उप. पद सं. 165
11. उप. पद सं. 166
12. उप. पद सं. 240
13. रामचरितमानस, अरण्य कांड, दोहा सं. 9
14. विनय पत्रिका, पद सं. 230
15. उप. पद सं. 232
16. उप. पद सं. 79
17. कवितावली, पद सं. 96
18. उप. पद सं. 97
19. डॉ. पुरूषोत्तम अग्रवाल- 'अकथ कहानी प्रेम की.....' पृ. 29 राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009
20. डॉ. रामविलास शर्मा- परम्परा का मूल्यांकन, पृ. 79, राजकमल प्रकाशन।
21. उप. पृ. सं. 81

बिहार में बगावत और कुंअर सिंह

कुमार नरेन्द्र सिंह

'कुंअर सिंह एक ऐसा आदमी है, जिसने हमें 80 साल की अवस्था में एक पूर्ण पराजय का त्रासद घाव दिया, जिसने बेलगाम विद्रोहियों से ऐसी हुक्मबरदारी हासिल की, जिसे उन्होंने किसी अन्य को नहीं दी, जिसने अपनी सेना का लखनऊ तक नेतृत्व किया और ऐसी लड़ाई लड़ी, जिसने अंत में भारत के भाग्य का फैसला किया। हम अंग्रेज काफी भाग्यशाली हैं कि कुंअर सिंह की उम्र 40 साल कम नहीं है।' यह कथन है उस उस अंग्रेज इतिहासकार का, जिसकी कलम में विद्रोहियों के प्रति सिर्फ नफरत ही भरी हुई थी। जॉर्ज ओ. ट्रिविलियन का यह उक्त कथन कुंअर सिंह की क्षमता और काबिलियत का सबसे बड़ा प्रमाण है। दुनिया के इतिहास में कुंअर सिंह के अलावा कोई प्रमाण नहीं मिलता कि किसी ने 80 साल की अवस्था में इतनी जबर्दस्त लड़ाईयाँ लड़ी हों और अपनी औकात तथा सरजाम से कई गुना ज्यादा विजय पताका फहराई हो।

बिहार में गदर के सरताज कुंअर सिंह शाहाबाद जिले (अब भोजपुर) की एक रियासत जगदीशपुर के जमींदार थे। बचपन से ही फक्कड़ और मनमौजी स्वभाव के कुंअर सिंह का ज्यादा समय शिकार खेलने और रासरंग में व्यतीत होता था। राजकाज से बेपरवाग और मनशोख होने के चलते भाइयों और पिता समेत पत्नी से भी ठनी ही रही। घुड़सवारी, तीरअंदाजी और पहलवानी उनका प्रिय शगल था। शरीर भी तो स्वभाव के अनुकूल ही मिला था। एक ब्रिटिश न्यायिक अफसर के अनुसार कुंअर सिंह दुबले-पतले और काले रंग के थे और उनका कद सात फीट लंबा था। उनके हाथ बबून (बंदर की एक प्रजाति) की तरह घुटने तक आते थे। उनका चेहरा और जबड़े चौड़े थे, जबकि उनकी गाल की हड्डियां उभरी हुई थीं। उनकी नाक गरुड़ जैसी थी और ललाट ऊंचा था। वे एक अव्वल दर्जे के घुड़सवार थे और तलवार चलाने में माहिर भी। जहां तक बंदूक की बात है तो बंदूक चलाने में भी उनका कोई सानी नहीं था। सबसे बड़ी बात तो यह कि इन हथियारों को वे अपनी देखरेख में बनवाया करते थे।

बिहार में गदर का नेतृत्व कुंअर सिंह ने ही किया था। वैसे सच बात तो यह है कि बिहार में सिपाहियों की बगावत में उनकी अच्छी-खासी भूमिका रही थी। अगर कहा जाए तो एक तरह से कुंअर सिंह की प्रेरणा से ही दानापुर के सिपाहियों ने विद्रोह किया था तो शायद गलत नहीं होगा। अंग्रेजों के खिलाफ युद्ध में उतरने से पहले कुंअर सिंह ने लड़ाई की पूरी योजना बनाई थी और देश भर के जमींदारों, राजे-रजवाड़ों को पाती भेजकर युद्ध में शामिल होने का न्योता भी दिया था। इतना ही नहीं, वे गुप्त रूप से हिंदुस्तान

भर के विद्रोहियों के संपर्क में भी थे। तत्कालीन अंग्रेजी सरकार के गुप्तचरों की रिपोर्ट भी इस बात की पुष्टि करती है। दानापुर में विद्रोह के दिन ही देवघर के रोहिणी में विद्रोह हुआ था और वहां के विद्रोही कुंअर सिंह की अगुआई में लड़ने के लिए आरा की तरफ कूच कर चुके थे। उसी दौरान देवघर में विद्रोहियों का एक गुप्तचर पकड़ा गया था, जिसने पूछताछ में कुबूल किया कि वह जगदीशपुर का रहने वाला है और वहां इसलिए पहुंचा था कि वहां की गतिविधियों के बारे में कुंअर सिंह को जानकारी दे सके।

7 जून, 1857 को बनारस में जिस विश्वासघाती तरीके से देशी सिपाहियों से हथियार जमा कराए गए और उसमें कर्नल नील का जो सिपाहियों के प्रति व्यवहार रहा, उससे दानापुर के सिपाही परेशान हो उठे। इसके बाद पटना में कमीश्नर टेलर की अंधेरगर्दी ने सिपाहियों को अंदर से झकझोर कर डाला, लेकिन इसके बावजूद सिपाही शांत रहे। इसी बीच इस बात का पता चला कि कुंअर सिंह के दो एजेंट दानापुर आए थे और वे सिपाहियों के संपर्क में थे। ये दोनों एजेंट कोई और नहीं बल्कि हरेकृष्ण और रणधारी सिंह थे, जिन्होंने गदर शुरू होने के बाद कुंअर सिंह के नेतृत्व में अहम भूमिका निभाई। सिपाहियों को इन्हीं दोनों ने बताया कि विद्रोह की स्थिति में कुंअर सिंह उनका नेतृत्व करने को तैयार हैं। जाहिर है कि इसने सिपाहियों की बगावत के लिए आग में घी का काम किया। क्रांति शुरू होने के पहले 1845 के दौरान ही सोनपुर के मेले में उन्होंने अन्य लोगों के साथ मिलकर अंग्रेजों के खिलाफ क्रांति की योजना भी बनाई थी। इसका सत्यापन अंग्रेजों के सरकारी इतिहासकार केयी और माल्लेसन ने भी किया। इतना ही नहीं, कुंअर सिंह ने देश के अन्य क्रांतिकारियों के साथ गठजोड़ के लिए हरिद्वार तक की यात्रा की और उनके साथ गुप्त बैठकें कीं। हरियाणा सर्व खाप पंचायत के तत्कालीन रिकॉर्ड दर्ज करने वाले मीर मुस्ताक मिरासी, जो उस बैठक में शामिल थे, ने बैठक में हुई बातों का पूरा ब्यौरा दिया है। उस बैठक में हिंदुस्तान के अनेक क्रांतिकारियों ने हिस्सा लिया था। मिरासी लिखते हैं कि उस बैठक में हरियाणा सर्व खाप के तत्कालीन मंत्री मोहनलाल जाट, सैन्य प्रमुख शिवराम जाट, उप सैन्य प्रमुख भागवत गूजर, पंडित शोभाराम, शामली (मुजफ्फरनगर) के चौधरी मोहर सिंह जाट, बिजरौल (मेरठ) के दादा साईमल्ल जाट, ढकौली (मेरठ) के चौधरी दया सिंह जाट के अलावा बहादुरशाह का एक बेटा, नाना साहेब, तात्या टोपे, जगदीशपुर (बिहार) के राजा कुंअर सिंह, बेगम हजरत महल, मौलवी अजीमुल्ला, बंगाल के रंगो बापू कायस्थ तथा झांसी की रानी लक्ष्मीबाई ने भी शिरकत की थी। मालूम हो कि मीर मुस्ताक मिरासी का

यह आंखों देखा विवरण पंजाब के जालंधर से निकलने वाले उर्दू अखबार में 12 अक्टूबर, 1969 के अंक में प्रकाशित हुआ है। इसके अलावा इस विवरण का उल्लेख रामनारायण अग्रवाल द्वारा लिखित राजा महेंद्र प्रताप अभिनंदन ग्रंथ में भी किया गया है। इसी तरह दिल्ली से प्रकाशित होने वाली पत्रिका आर्य मर्यादा में भी यह विवरण छपा है। यह बैठक मई, 1855 में हुई थी। कहने का अर्थ यह कि जो लोग कुंअर सिंह पर यह आरोप लगाते हैं कि उन्होंने अंग्रेजों के खिलाफ तब मोर्चा खोला जब उन्हें एहसास हो गया कि उनकी जमींदारी नहीं बचेगी, वह गलत है। इसमें कोई शक नहीं कि कुंअर सिंह ने अपनी जमींदारी बचाने की कोशिश अंतिम दम तक की, लेकिन इसके साथ ही यह भी सच है कि अंग्रेजों के खिलाफ मोर्चाबंदी में भी जुटे रहे थे। दूसरी बात यह कि जो इतिहासकार या लेखक कुंअर सिंह पर उक्त आरोप लगाते हैं, उन्हें समझना चाहिए कि 1857 के सभी क्रांतिकारी अंग्रेजों के खिलाफ तभी खड़े हुए जब उन्हें लगने लगा कि उनकी जमींदारी नहीं बचेगी। यह एक ऐसा आरोप है, जिससे 1857 का कोई भी क्रांतिकारी अछूता नहीं है।

बहरहाल, कुंअर सिंह की पाती पर बिहार के छोटे जमींदारों ने तो युद्ध में शामिल होने की हामी जरूर भरी, किंतु किसी भी बड़े जमींदार ने उनका साथ नहीं दिया। दरभंगा, टेकारी और बेतिया तथा हथुआ नरेश की बात कौन करे, एक ही खानदान के होने के बावजूद डुमरांव महाराज तक अंग्रेजों के खिलाफ खड़े नहीं हुए, वैसे यह कहना ज्यादा सही होगा कि इन राजाओं ने अंग्रेजों का ही साथ दिया। इतना ही नहीं, कुंअर सिंह के सगोत्रीय उज्जैन राजपूतों ने भी उनका साथ नहीं दिया । अपने सगोत्रीयों के इस व्यवहार से कुंअर सिंह इतने आहत हुए थे कि एक बार तो उन्हीं लोगों के खिलाफ लड़ाई की आवश्यकता महसूस करने लगे थे। आज भी भोजपुर के एक उज्जैनिया राजपूतों के गांव लहठान, जिला भोजपुर में एक बहुत बड़ा तालाब है, जिसके बारे में वहां के लोग बताते हैं कि वह पोखरा कुंअर सिंह ने खोदवाया था और इसका उद्देश्य था उस गांव के सभी उज्जैनिया राजपूतों को मार कर उसी तालाब में गड़वा देना। वास्तव में कुंअर सिंह की असली ताकत शाहाबाद के आम जन थे, जो उनकी ललकार पर अंग्रेजों के खिलाफ खड़े हो गए थे। प्रसिद्ध इतिहासकार, अरविंद नारायण दास ने शायद इसीलिए कुंअर सिंह का आकलन प्रथम किसान नेता के रूप में किया है। स्वयं अंग्रेज अधिकारियों का कहना है कि कुंअर सिंह की असली ताकत जनता थी, जो उन्हें दिलोजान से चाहती थी। दानापुर के सिपाहियों सहित अन्य जमींदारों को अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ खड़ा करने में कुंअर सिंह की भूमिका का यह भी एक प्रमाण है कि 17 जुलाई यानी बगावत के एक सप्ताह पूर्व आरा के

जज ने अपने टेबल पर एक बेनामी पत्र पड़ा पाया, जिसमें कहा गया था कि गया कि एक नामी जमींदार अली करीम, जो कंपनी सरकार के खिलाफ गुप्त पत्राचार के मामले में शामिल थे, हाल ही में जगदीशपुर आए थे। इस पत्र में यह भी लिखा था कि दानापुर के सिपाही 25 जुलाई को बगावत कर सकते हैं। आगे यह भी लिखा था कि यदि आरा में कुंअर सिंह के एजेंट काली प्रसाद के घर की तलाशी ली जाए तो आपत्तिजनक ठोस सुबूत मिल सकते हैं। काली प्रसाद के घर की तलाशी ली गई लेकिन वहां कुंअर सिंह के षड्यंत्र में शामिल होने के मामले में कोई सुबूत नहीं मिला। अलबत्ता, बगावत की तिथि जरूर सही साबित हुई।

यूं तो कुंअर सिंह शाहाबाद के सबसे बड़े जमींदार थे, लेकिन उनकी जमींदारी की स्थिति डावांडोल थी। इस्टेट आर्थिक बोझ से दबा हुआ था। उनके ऊपर उस समय 20 लाख रुपए का कर्ज था। सेना और सरजाम भी उनके पास कम थे। अगर अंग्रेज इतिहासकारों की ही बात करें तो कुंअर सिंह के पास 1000-2000 से ज्यादा सैनिक कभी नहीं रहे। इन तमाम प्रतिकूल परिस्थितियों के बावजूद उन्होंने इतनी लंबी लड़ाई लड़ी तो सिर्फ इसलिए कि स्थानीय जनता का उन्हें जबर्दस्त समर्थन हासिल था। अगर कहा जाए कि शाहाबाद के किसानों और कारीगरों के बल पर ही उन्होंने 80 साल की उम्र में अंग्रेजों को नाकों चने चबवा दिए तो कोई गलत नहीं होगा। जनता के साथ उनके जुड़ाव को अनेक अंग्रेज अफसरों ने अपने सरकारी और वैयक्तिक पत्रों में रेखांकित किया है। आम जन के साथ उनके जुड़ाव का आलम यह था कि जब आरा जेल के कैदी पीतल के लोटे के बदले मिट्टी के पात्र दिए जाने के खिलाफ उग्र हो चले तो उन्हें शांत करने के लिए पटना के कमीश्नर टेलर ने कुंअर सिंह को जेल में बुलाया था। कुंअर सिंह के कहने पर उस वक्त तो कैदी मान गए लेकिन उनके वहां से जाते ही फिर उग्र रूप अख्तियार कर लिए।

दानापुर के सिपाहियों ने तो 25 जुलाई, 1857 को विद्रोह किया था लेकिन उससे पहले ही कुंअर सिंह को ज्ञात हो चुका था कि दानापुर के सिपाही विद्रोह करने वाले हैं। एक सिपाही ने चंद दिनों पहले ही बता दिया था कि सिपाहियों के बीच हल्दी बंट चुकी है और अब विद्रोह कभी भी हो सकता है। वैसे कुंअर सिंह युद्ध की तैयारी में पहले से ही जुट गए थे। रंगरूटों की भर्ती के साथ-साथ उनकी ट्रेनिंग भी दी जा रही थी। उन्होंने अपनी सेना को पांच कमांड में विभाजित कर रखा था, जिनके नाम थे---राणा कमान, शिवा कमान, टीपू कमान, बजरंगी कमान और चंडी कमान। सेनापति हरेकृष्ण को बनाया गया था। इनकी पदवी थी--सलारे जंग। इसी तरह विभिन्न ब्रिगेडों के नाम स्थानीय गांव के नाम पर रखे गए थे।

दानापुर की सातवीं, आठवीं और चालीसवीं पलटन ने 25 जुलाई को विद्रोह किया और वे कुंअर सिंह से नेतृत्व की प्रत्याशा में आरा शहर को कूच कर चले। कुंअर सिंह ने उचित ही उनका नेतृत्व संभाला। देखते ही देखते कुंअर सिंह की अगुआई में विद्रोहियों ने आरा शहर को अपने कब्जे में ले लिया। विद्रोहियों ने आरा के सरकारी खजाने से 85,000 हजार रुपए लूट लिए और जेल तोड़कर सभी कैदियों को आजाद करा लिया। कुंअर सिंह के मन में धर्म निरपेक्षता का आग्रह कितना प्रबल था, इसका अंदाजा इसी तथ्य से लगाया जा सकता है कि कब्जे के बाद उन्होंने आरा शहर की कमान शेख मोहम्मद याहिया और शेख अफजल को सौंपी न कि किसी हिंदू को। अंग्रेजों को इंजीनियर ब्वॉयल के घर, जो बाद में आरा हाऊस के नाम से मशहूर हुआ, में जान बचाने के लिए छिपना पड़ा। आऱा को मुक्त कराने के लिए कैप्टन डनवर दानापुर से 500 सैनिकों की एक फौज लेकर आऱा रवाना हुआ। जब अंग्रेजी फौज आरा के नजदीक कायमनगर पहुंची तो कुंअर सिंह के सैनिकों ने उन पर हमला बोल दिया। जबर्दस्त ल़ड़ाई हुई। इस लड़ाई में डनवर सहित उसके लगभग चार सौ सैनिक मारे गए और कुंअर सिंह की विजय हुई।

उधर अंग्रेजों की गोलंदाजी सेना का सेनापति कैप्टन आयर कलकत्ता से इलाहाबाद जा रहा था कि बक्सर में उसे खबर मिली कि कुंअर सिंह के नेतृत्व में विद्रोहियों ने आरा पर कब्जा कर लिया है। बस क्या था, वह वहीं से वापस मुड गया। उसके पास एक बड़ी फौज के अलावा तोपें भी थीं। गजराजगंज में कुंअर सिंह और अंग्रेजी फौज के बीच जमकर लड़ाई हुई। कुंअर सिंह ने सावधानी बरतते हुए मोर्चा छोड़ दिया, किसी और जगह मोर्चा जमाने के लिए। यह नया मोर्चा लगा बीबीगंज में। इस लड़ाई में भी कुंअर सिंह को नाकामी मिली। कैप्टन आयर विजयी होकर आरा शहर में प्रवेश किया और आरा फिर से अंग्रेजों के हाथ में चला गया। इसके बाद आयर ने एक बड़ी फौज लेकर जगदीशपुर पर हमला किया, लेकिन तब तक कुंअर सिंह वहां से निकल चुके थे। आयर ने कुंअर सिंह के गढ़ को तोपों से ढहा दिया और आग लगा दी। कुंअर सिंह ने कुछ दिनों पहले ही जगदीशपुर में एक सुंदर शिव मंदिर बनवाया था। आयर ने इस मंदिर को भी नहीं बख्शा और उसे भी तोपों से ढहा दिया और उसके पुजारी को मार डाला। इसके बाद आरा शहर पर फिर से अंग्रेजों का अधिकार हो गया। आरा को मुक्त कराने के बाद आयर अपने सहयोगियों और सिपाहियों के साथ दानापुर लौटा। दानापुर में चालीसवीं पलटन के 100 देशी सिपाही तब भी अंग्रेजों के प्रति वफादार बनकर वहीं डटे हुए थे। रात में जब डनवर की हारी हुई सैनिक टुकड़ी दानापुर पहुंची तो वे देशी सिपाही बेखबर सो रहे थे। केयी ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि हार से बौखलाए गोरे सिपाहियों ने उन अभागे देशी सिपाहियों को

अंधेरे का लाभ उठाकर संगीनों से मार डाला। केयी इस जघन्य बर्बर कांड की भर्त्सना भी करता है। वह लिखता है– इन अंग्रेज सिपाहियों ने सो रहे मित्रों पर महज इसलिए हमला कर दिया कि उनकी चमड़ी का रंग भी विद्रोहियों के रंग जैसा था। आरा फतह के बाद लौटी अंग्रेजों की फौज ने अपने इस कृत्य से वर्दी पर दाग लगा लिया और मानवता को कलंकित किया। लेकिन अफसोस कि विद्रोहियों की ज्यादतियों को बढ़ा-चढ़ाकर पेश करने वाले अंग्रेज अपने उन सैनिकों के खिलाफ कोई कार्रवाई नहीं की, जिन्होंने वफादार सिपाहियों का सोते में कत्ल किया था।

आरा पर फिर से अधिकार के बाद आयर ने शहर के लोगों से हथियार जब्त करने का आदेश दिया और बिना मुकदमा चलाए लगभग दर्जन भर विद्रोही सैनिकों को फांसी पर लटका दिया। फांसी पर लटकाए जाने वाले सिपाहियों में अवलेक सिंह (चालीसवीं रेजिमेंट), रामनारायण पांडे (40वीं रेजिमेंट), नबी बख्श (आठवीं रेजिमेंट), गंभीर सिंह (40वीं रेजिमेंट), मंसूर अली खां (40वीं रेजिमेंट), शेख वजीर (आठवीं रेजिमेंट), शेख अहमद (आठवीं रेजिमेंट), मंसा राम (सातवीं रेजिमेंट), मेघबरन ग्वाला (40वीं रेजिमेंट), गणेश सिंह (40वीं रेजिमेंट) शामिल थे। इसके अलावा सातवीं रेजिमेंट के सिपाही पुतुल सिंह को रिहा कर दिया गया, जबकि सिपाही जटाधारी को मुकदमा चलाने के लिए दानापुर भेजा गया। इतना ही नहीं, आरा शहर के आम लोगों पर भी मुकदमा चलाया गया और उन्हें तरह-तरह की सजा दी गई। 1957 की क्रांति के संदर्भ में आरा शहर के साथ एक विशिष्ट बात भी हुई और वह यह थी कि इस शहर पर बगावत के आरोप में मुकदमा चला। पूरे देश में आरा एकमात्र ऐसा शहर था, जिस पर एक पक्ष के रूप में मुकदमा चला। क्रांति के अन्य मशहूर केंद्रों– मेरठ, दिल्ली, कानपुर और लखनऊ पर भी ऐसा मुकदमा नहीं चला। जाहिर है कि अंग्रेजों की नजर में आरा शहर के सभी लोग बगावत में शरीक थे, जबकि अन्य जगहों पर लोगों ने क्रांति को इतना समर्थन नहीं दिया। सन् 1859 में चला यह मुकदमा था– गवर्नमेंट वर्सेज दी टाउन ऑफ आरा था। 1858 के अधिनियम 10 के तहत आरा शहर पर बगावत का आरोप था और सुनवाई करने वाले मजिस्ट्रेट थे डब्ल्यू. जे. हर्शल। बहरहाल, मजिस्ट्रेट ने आरा शहर को बरी कर दिया और बंगाल सरकार ने भी मजिस्ट्रेट के निर्णय को सही ठहराते हुए पटना प्रमंडल के आयुक्त को आगे कोई कार्रवाई न करने का निर्देश दिया।

बीबीगंज और जगदीशपुर की हार से सिपाहियों में थोड़ी कुंठा तो जरूर पैदा हुई लेकिन कुंअर सिंह ने जब दहाड़ते हुए कहा कि जहां मैं हूँ, जगदीशपुर

वहीं है, तो सिपाहियों में उत्साह की लहर दौड़ गई। उस समय कुंअर सिंह के पास कुल 1000 सिपाहियों की फौज थी। इसी फौज को लेकर कुंअर सिंह सासाराम की ओर बढ़ गए। सासाराम जब 10 मील रह गया तो नोखा में कुंअर सिंह ने पड़ाव डाला ताकि रसद आदि इकत्रित कर लिया जाए। कुंअर सिंह की जनता से सक्रिय संवाद का पता उस चिट्ठी से लगता है, जो सासाराम के डिप्टी मजिस्ट्रेट डब्ल्यू. सी. कॉस्टले ने 30 अगस्त को कंपनी सरकार को लिखा था। इस पत्र में वह लिखता है कि नोखा सहित आस-पास के सभी जमींदारों और उनके रैयतों ने कुंअर सिंह रसद-पानी से खूब मदद की। बरांव के जमींदार मलिक बंधुओं ने खुलेआम घोषणा कर डाली कि कंपनी का राज समाप्त हो चुका है और अब कुंअर सिंह का राज है। यहां इस बात का उल्लेख करना समीचीन होगा कि बीबीगंज की लड़ाई हारने के बाद सातवीं, आठवीं रेजिमेंट्स के सिपाही कुंअर सिंह के साथ जगदीशपुर न जाकर स्वयं की पहल पर पश्चिम दिशा में बढ़ गए थे। कुंअर सिंह के साथ मूल रूप से 40वीं पैदल सेना ही रह गई थी, जिसकी संख्या मात्र 1000 थी। इसके बाद वह रोहतास में प्रवेश कर गए और कुछ दिनों वहीं पर रहकर हजारीबाग में विद्रोह करने वाले सिपाहियों की दो कंपनियों और भागलपुर की पांचवीं घुड़सवार सेना के विद्रोहियों के आ मिलने के लिए इंतजार करते रहे, लेकिन दुर्भाग्य कि विद्रोही सेना चतरा में हार गई और कुंअर सिंह की मुराद अधूरी ही रह गयी। इसके बावजूद विद्रोही सेना के लगभग 150 सैनिक कुंअर सिंह से आ मिले। कुंअर सिंह के छोटे भाई अमर सिंह इस इलाके में पहले से ही डटे हुए थे और गोरों को परेशान कर रहे थे। कुंअर सिंह ने तय किया कि अमर सिंह यहां जंगल से अपनी गुरिल्ला कार्रवाई से गोरों और उनके संचार तंत्र को बाधा पहुंचाते रहें और वह स्वयं नाना साहेब और तात्या टोपे से संपर्क करने के लिए आगे बढ़ गए।

सासाराम की कमान अपने छोटे भाई अमर सिंह के हाथों में देकर कुंअर सिंह ने सोन नदी को पार किया और मिर्जापुर के करीब विजयगढ़ में पड़ाव डाला। स्थानीय लोगों का वहां उन्हें जमकर समर्थन मिला। इसके बाद वे सिंगरोली पहुंचे और सहायता के लिए रीवां महाराज को गुहार लगाई, लेकिन समर्थन देने के बदले रीवां महाराज ने उन्हें अपनी सीमा में घुसने से मना कर दिया। इससे क्रुद्ध होकर कुंअर सिंह ने रीवां का रुख किया। रीवां का कायर राजा राजधानी छोड़कर भाग चला, लेकिन रीवां के सिपाहियों ने कुंअर सिंह का साथ दिया। रीवां का रेजिडेंट कमांडर कर्नल हिंडे कुंअर सिंह का प्रतिरोध करने के लिए मैदान में आया तो जरूर लेकिन बागी फौजों के सामने वह ज्यादा देर तक टीक नहीं सका और अपनी जान बचाने के लिए सिर पर पैर रखकर भागा। रीवां के रेजिडेंट

विल्लोवी ओसबर्न को विद्रोही सिपाहियों ने पकड़ लिया, लेकिन कुंअर सिंह ने उसकी जान नहीं ली और उसे निरापद जाने दिया। ओसबर्न ने लिखा है कि कुंअर सिंह के सिपाहियों ने उसे तथा उसके अन्य अफसरों को पकड़ लिया और उन्हें निहत्था कर एक जगह पर बंदी बना लिया। वह आगे लिखता है– 'हम सभी को यही लग रहा था कि हमारी जान नहीं बचेगी। विद्रोही सैनिक कुंअर सिंह के आने का इंतजार कर रहे थे। मैंने देखा कि कुंअर सिंह एक सफेद घोड़े पर अपने विश्वस्त सिपाहियों के साथ वहां पहुंचा। हमें लगा कि अब वे हमें मार देंगे लेकिन कुंअर सिंह ने ऐसा नहीं किया। वह हमारे पास आया और बड़ी हिकारत से हमारे मुंह पर थूक दिया और अपने सिपाहियों को आदेश दिया कि ये लोग जहां जाना चाहते हैं, जाने दो'। वह सचमुच वीरता की प्रतिमूर्ति है। दानापुर में भी विद्रोह का तरीका अलग रहा। दानापुर में किसी बेगुनाह सैनिक या सरकारी कारिंदे की हत्या नहीं की गई। हो सकता है कि बड़ी छावनी होने के कारण ऐसा नहीं हुआ हो लेकिन मेरठ में ऐसा नहीं हुआ था, जबकि वह भी एक बड़ी छावनी थी। वहां पर देशी सिपाहियों ने अनेक अंग्रेज अफसरों और सैनिकों को मार डाला था। ऐसे में इसका एकमात्र कारण यही नजर आता है कि शायद कुंअर सिंह ने अनर्गल हिंसा में लिप्त नहीं होने के लिए सिपाहियों को निर्देश दिया था। इसके बात के यह बात कही जा सकती है कि कुंअर सिंह ने अपने पूरे सैनिक अभियान के दौरान अनर्गल हिंसा से परहेज रखा। यह बात 1957 के और किसी भी लीडर के बारे में नहीं कही जा सकती, क्योंकि कुंअर सिंह को छोड़कर सभी ने कभी न कभी अनर्गल हिंसा की या उसे बढ़ावा दिया। एक सच्चे क्रांतिकारी की यही विशेषता होती है कि वह बेमतलब की हिंसा से परहेज करता है। ऐसे में कहा जा सकता है कि कुंअर सिंह एक सच्चे क्रातिकारी थे। उनकी नजर में मानवीय मूल्य हार-जीत से ज्यादा महत्वपूर्ण रहे। जब कुंअर सिंह की अगुआई में विद्रोहियों ने आरा शहर पर कब्जा किया तो अनेक अंग्रेज और यूरेशियन उनके कब्जे में थे लेकिन जब आयर ने आरा शहर को विद्रोहियों से वापस छीना तो सभी सुरक्षित पाए गए, किसी को चोट नहीं पहुंची थी। इतिहासकार हॉल्स लिखता है कि आरा हाउस में अंग्रेजों को बंद किए जाने के दौरान अनेक यूरेशियन ईसाई परिवार कुंअर सिंह के अधीन थे, जिन्हें कुंअर सिंह के आरा से जाने के बाद पूरी तरह सुरक्षित पाया गया। सच तो यह है कि हमें ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिला कि अन्य विद्रोहियों की तरह कुंअर सिंह ने बेगुनाह अंग्रेजों पर कभी कोई अत्याचार किया। यह बात कहने वाला व्यक्ति वह है, जो आरा हाऊस में 27 जुलाई, 1857 से 3 अगस्त, 1857 तक बंदी था। इसी तरह आरा के तत्कालीन जिला मजिस्ट्रेट वेक का कहना

है कि आरा जिले में विद्रोह की एक खास विशेषता यह रही कि किसी भी यूरेशियन की अकारण हत्या नहीं की गई। इसी तरह बीबीगंज के युद्ध में भाग लेने वाला एक अंग्रेज केली लिखता है कि कुंअर सिंह को स्थानीय लोग बाबू साहेब कह कर संबोधित करते हैं, जिसके वह वास्तविक अधिकारी हैं। उनकी प्रशंसा चाहे यहां हो या किसी अन्य जगह, उसके वह पूरे हकदार हैं। सभी विद्रोहियों में वह सबसे सभ्य सिपाही और देशभक्त हैं।

रीवां का शासन अली और राय के जिम्मे सौंपकर कुंअर सिंह स्वयं बांदा की तरफ बढ़े। बांदा के नवाब ने उनका बखूबी साथ दिया। लेकिन पड़ोस के अजयगढ़ के राजा के साथ बांदा के नवाब की नहीं बनती थी। कुंअर सिंह ने दोनों में समझौता कराने की काफी कोशिश की लेकिन अजयगढ़ के राजा की जिद के चलते समझौता नहीं हो सका। इसके बाद कुंअर सिंह ने बांदा के नवाब के साथ मिलकर अजयगढ़ पर चढ़ाई कर दी। गढ़ को ढहा दिया गया और राजा को गिरफ्तार कर लिया गया। जब कुंअर सिंह ने वहां से कालपी के लिए कूच किया तो नवाब ने उनके साथ अपने 1200 सिपाहियों को भी भेजा। कुंअर सिंह जल्द से जल्द कालपी पहुंचना चाहते थे, क्योंकि पत्राचार द्वारा तय किया गया था कि नाना साहेब, तांत्या टोपे और लक्ष्मीबाई के साथ मिलकर आगे की योजना वहीं बनाई जाएगी लेकिन उन तीनों को अंग्रेजी सेना ने रास्ते में ही घेर लिया। इस तरह यह बैठक नहीं हो सकी। जब कुंअर सिंह ने देखा कि वे लोग नियत समय पर वहां नहीं पहुंचे तो उनका मन किसी बुरी आशंका से भर गया। कुंअर सिंह जैसे सेनापति के लिए यह समझना कठिन नहीं था कि कुछ गड़बड़ है। बस क्या था, उन्होंने तुरंत सेना को आदेश दिया कि यहां से जल्दी कूच किया जाए। उन्हें अंदेशा हो गया था कि अंग्रेजों को उनकी बैठक के बारे में पता चल चुका है। यह बात जल्दी ही सामने भी आ गई, क्योंकि कुंअर सिंह वहां से अपनी सेना लेकर निकलने ही वाले थे कि अंग्रेजों की तोपें आग बरसाने लगीं। कुंअर सिंह की सेना भी अंग्रेजों से जूझ पड़ी। इसी लड़ाई में कुंअर सिंह का पोता दलभंजन सिंह मारा गया था। एक बार तो लगा कि कुंअर सिंह पराजित हो ही जाएंगे, क्योंकि अंग्रेजी फौज ने कुंअर सिंह की फौज को लगभग चारों तरफ से घेर लिया था लेकिन ऐसा नहीं हुआ। कुंअर सिंह की पराजय और अंग्रेजों की जीत के बीच कुंअर सिंह की प्रेमिका वीरांगना धर्मन बाई आ खड़ी हुई। इतिहास की किताबों में धर्मन बाई के बारे में बस इतना ही लिखा है कि वह कुअंर सिंह की रखैल थी, लेकिन वास्तव में वह कुंअर सिंह की धरम-संगिनी और उनके सैनिकों के लिए प्रेरणास्रोत थी। मालूम हो कि आरा से कुंअर सिंह की फौज को धर्मन बाई ने ही रवाना करने की रस्म निभाई थी। कुंअर सिंह की फौज बस अब

हारने ही वाली थी कि धर्मन बाई ने बायीं तरफ से बढ़कर तोपची बन मोर्चा संभाल लिया और दाहिने बाजू से सरदारों को घेरा कसने के लिए ललकारा। इसके बाद उसने तोप से ऐसी तबाही मचाई कि अंग्रेजों को लेने के देने पड़ गए और उनकी फौज भाग चली। युद्ध तो जीत लिया गया लेकिन धर्मन बाई इतनी घायल हो चुकी थीं कि उन्हें बचाया नहीं जा सका। धर्मन बाई की उस शहादत को भोजपुर के लोगों ने आज भी संजो रखा है। आज भी आरा शहर में धर्मन बाई के नाम पर एक मुहल्ला है, जिसका नाम है धर्मन टोला। इसके अलावा आरा और जगदीशपुर में धर्मन बाई द्वारा स्थापित मस्जिदें आज भी उसकी याद दिलाती हैं। कहा तो यहां तक जाता है कि कुंअर सिंह को अंग्रेजों के खिलाफ लड़ाई लड़ने के लिए धर्मन बाई ने ही प्रेरित किया था। कालपी उनके ऐतिहासिक अभियान के प्रथम चरण का अंत था। अब तक कुंअर सिंह 400 मील की यात्रा कर चुके थे। दिल्ली मार्च का अभियान कुंअर सिंह के मन से अब जाता रहा क्योंकि दिल्ली का पतन हो चुका था और दिल्ली के बादशाह बहादुरशाह जफर अंग्रेजों के कब्जे में था।

इसके बाद कुंअर सिंह ने अपनी सेना को कूच करने का आदेश दिया और वे कानपुर की ओर बढ़ चले। इसी बीच रास्ते में ग्वालियर की चालीसवीं पैदल सेना के बागी सिपाही कुंअर सिंह से आ मिले। कानपुर के पास चहारनिशां में गुलाब सिंह का भतीजा बंदी था। कुंअर सिंह ने उसे आजाद कराया और ग्वालियर कॉन्टिनजेंट को लेकर कानपुर पहुंचे। नाना साहेब और उनके भाई जहां शिवराजपुर और शिवली होते हुए उत्तर की ओर से चढ़ाई कर रहे थे, वहीं कुंअर सिंह ने अकबरपुर, रनिया और रायपुर होते हुए दक्षिण से चढ़ाई की अगुआई की। कानपुर का एक वकील, जो अंग्रेजों का खैरख्वाह था, ने अपनी डायरी में लिखा है कि कानपुर की लड़ाई में कुंअर सिंह ने आगे बढ़कर हिस्सा लिया। यह लड़ाई 26 नवंबर, 1857 से 6 दिसंबर, 1858 तक चली, जिसमें अंग्रेजों को काफी हानि उठानी पड़ी और विद्रोहियों ने कानपुर शहर को आजाद कराकर उसकी शासन व्यवस्था अपने हाथों में ले ली। नानकचंद के अनुसार कुंअर सिंह दानापुर के बागी सिपाहियों के साथ कानपुर पर दक्षिण से हमला किया। इस हमले में ब्रिगेडियर विल्सन बुरी तरह घायल हो गया और उसकी फौज अपनी पनाहगाह में छिप गई। इस युद्ध में कुंअर सिंह डिविजनल कमांडर के रूप में शामिल हुए। विद्रोहियों की जीत की यह खुशी ज्यादा देर तक कायम नहीं रह सकी क्योंकि अचानक कॉलिन कैंपबेल एक बड़ी फौज लेकर लखनऊ से कानपुर पहुंच गया। इसके बाद अंग्रेजों ने प्रति-आक्रमण किया। देखते ही देखते पांसा पलट गया और जो अंग्रेज निर्णायक पराजय की

आशंका से ग्रसित थे, अब पलट कर वार करने लगे। जनरलगंज में विद्रोही सेना और अंग्रेजों के बीच भयानक लड़ाई हुई। देशी सिपाहियों ने वीरता तो दिखाई लेकिन अंत में वे पराजित हुए।

कुंअर सिंह की समझ में एक बात आ गयी कि अंग्रेजों से आमने-सामने की लड़ाई नहीं जीती जा सकती क्योंकि उनके पास बेहतर और दूर तक मार करने वाले हथियार हैं। यही कारण है कि कानपुर में हारने के बाद जब तांत्या टोपे ने उन्हें कालपी आमंत्रित किया तो वह वहां नहीं गए, बल्कि इसके बदले वह लखनऊ रवाना हो गए, जो अवध में विद्रोह का केंद्र था और अंग्रेज अब भी अपने घेरे में कैद थे। लखनऊ रवाना होने के पहले उन्होंने अपने सैनिकों को पानी और तलवार के रुपक के जरिए अपने रणनीतिक दर्शन अवगत कराया। उन्होंने बताया कि अब हमें इसी रणनीति के तहत लड़ाई लड़नी होगी। जैसे तलवार से वार करने पर पानी बिना किसी प्रतिरोध के कट जाता है लेकिन उसी प्रक्रिया में तलवार चारों तरफ से घेर भी लेता है, वैसे ही हमें लड़ना होगा।

कुंअर सिंह 1857 के दिसंबर में लखनऊ पहुंचे। अवध के दरबार में उनका दिल खोलकर स्वागत किया गया। बारह हजार रुपये और खिल्लत देने के साथ-साथ नवाब ने कुंअर सिंह को आजमगढ़ पर शासन कायम करने का फरमान भी दिया। कुंअर सिंह साधन जुटाने और अपनी योजना को ठोक बजाकर तैयार करने की गरज से कुछ दिन लखनऊ में रहे। लखनऊ में रहकर अंग्रेजों के खिलाफ मोर्चा लेने के बदले कुंअर सिंह ने आजमगढ़ जाने का निश्चय किया। इस निर्णय का कारण यह था कि इससे लखनऊ में अंग्रेजों की शक्ति में कमी आएगी। इसके अलावा उन्हें यह भी विश्वास था कि आजमगढ़ में उन्हें स्थानीय लोगों की सहायता मिल सकती है, क्योंकि बंगाल रेजिमेंट के अधिकांश सिपाही भोजपुरी क्षेत्रों के ही थे। सबसे बड़ी बात यह थी कि आजमगढ़ जगदीशपुर से नजदीक पड़ता था। इसमें कोई शक नहीं कि यह क्षेत्र उनकी लड़ाई के लिए महत्वपूर्ण अवसर प्रदान करने वाला था, लेकिन तभी जब लखनऊ की लड़ाई को विद्रोही कुछ दिन और खींचते। कुंअर सिंह 21 मार्च को आजमगढ़ से 20 मील दूर अतरौलिया नामक जगह पर पहुंचे लेकिन दुर्भाग्य कि उसी दिन कैंपबेल के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने लखनऊ में विद्रोहियों की निर्णायक ढंग से पराजित कर दिया। जब कुंअर सिंह अतरौलिया पहुंचे, उस समय आजमगढ़ गैरीसन के कमांडेंट मिलमैन कोयलसा में था। जब उसे कुंअर सिंह के आने की बात का पता चला तो वह उनसे भिड़ने के लिए चल दिया। 22 मार्च की सुबह लड़ाई प्रारंभ हो गई। थोड़ी देर लड़ने के बाद कुंअर सिंह दुश्मनों को यह आभास देते हुए पीछे हट गए

कि वे लड़ाई हार गए। इधर कुंअर सिंह की फौज को खदेड़ कर मिलमैन ने सोचा कि थोड़ा आराम कर लिया जाए और उसने सिपाहियों को हुक्म दिया कि वे नाश्ता कर लें। अंग्रेजी सेना अपने हथियार रख कर नाश्ता करने की तैयारी करने लगे। कुंअर सिंह को उनके एक भेदिए ने जानकारी दी कि अंग्रेजी फौज नाश्ता करने जा रही है। बस क्या था, कुंअर सिंह ने तुरंत अंग्रेजी फौज पर धावा बोल दिया। अंग्रेजी फौज को काफी हानि उठानी पड़ी और मिलमैन जब भागकर कोयलसा पहुंचा तो देखा कि सभी लोग वहां से भाग चुके हैं। इसके बाद वह आजमगढ़ रवाना हो गया। कुंअर सिंह ने आजमगढ़ को अपने कब्जे में ले लिया और भोजपुर लौटने की तैयारी में जुट गए। अंग्रेजों से लड़ते-भिड़ते और उन्हें छकाते कुंअर सिंह शिवपुर पहुंचे और वहीं गंगा पार करने का निश्चय किया। सरदारों और सिपाहियों की बारंबार विनती के बावजूद कुंअर सिह ने पहले पार करने से मना कर दिया। पहले उन्होंने अपनी फौज को गंगा पार करने का आदेश दिया और स्वयं सबसे बाद में पार करने का निर्णय लिया। नाव की अंतिम खेप को रवाना करने के बाद कुंअर सिंह स्वयं एक हाथी पर सवार होकर गंगा पार करने लगे, तभी शिवपुर घाट के पश्चिम से डगलस और लुगार्ड के नेतृत्व में अंग्रेजी फौजें वहां पहुंच गयीं। कर्नल चैंबरलेन भी मद्रासी घुडसवार सेना लेकर वहां पहुंचा लेकिन अब किया ही क्या जा सकता था। बाबू साहेब की फौज तो पहले ही गंगा पार कर चुकी थी और स्वयं भी वे आधी गंगा पार कर चुके थे। अंग्रेजी फौज गंगा पर कर रहे सिपाहियों पर गोली बरसाने लगे। सिपाही भी जवाबी गोलीबारी करने लगे। इसी गोलीबारी में एक गोली कुंअर सिंह की बायीं बांह में लगी और खून का फव्वारा फूट पड़ा। बूढे बाज ने उस बांह को अपनी तलवार से एक ही वार में अपने तन से अलग कर दिया और मां गंगे को यह कहते हुए समर्पित कर दिया कि यह बांह अंग्रेजों की गोली लग जाने से अपवित्र हो गई है। हे मां, इसे तू ही अपनी पावन धारा से पवित्र कर। भोजपुरी प्रदेशों में गाए जाने वाले एक सोहर में इस घटना का बयान कुछ इस तरह किया गया है---लाख-लाख गोरवन के मारेलन, त मारी के खदेरेलन हो, ललना तनी एसा अंखिया बिछुली गइले बहियां में गोली खइले हो। गोलिया जे लागे जइसे फूल बरसे, हंसेलन कुंअर सिंह हो, ललना सेहू बंहियां काटी तरुवरिया त गंगा में अरपी दिहले हो। शाहाबाद के लोग तो कुंअर सिंह की प्रतीक्षा कर ही रहे थे। शाहाबाद की जनता और कुंअर सिंह के परस्पर संबंध का पता उस तत्कालीन आरा के इंजीनियर ब्वायल के पत्र से प्रकट होता है। उसने सरकार को लिखा था कि कुंअर सिंह की इच्छा शाहाबाद वापस आने की है। उसने अपनी यह इच्छा बड़े पैमाने पर जाहिर कर दी है। लोग उसके आने की राह देख रहे हैं और बड़ी संख्या में उसका और उसकी सेना का साथ देने को तैयार हैं। 22 अप्रैल, 1858 को कुंअर सिंह एक हजार सैनिकों के साथ जगदीशपुर लौटे। 23 अप्रैल को ली ग्रैंड के नेतृत्व में अंग्रेजी सेना ने कुंअर

सिंह की सेना पर जंगल में आक्रमण किया। मेलीसन ने कुंअर सिंह की सेना के लिए लिखा है कि उसमें एक हजार पस्त आदमी थे, जिनके पास तोपें नहीं थीं और यहां तक कि किसी के पास ठीक तरह से हथियार भी नहीं थे। अंग्रेजों ने तोपों से गोलाबारी की और पैदल सैनिकों को हल्ला बोलकर आक्रमण करने का हुक्म दिया, लेकिन अंग्रेजों को लेने के देने पड़ गए। गुरिल्ला युद्धशैली में पारंगत कुंअर सिंह की फौज ने ऐसी मार मचाई कि अंग्रेज उल्टे पांव भागे और तोपें छोड़कर उन्होंने आरा में आकर ही दम लिया। कैप्टन ली ग्रैंड सहित उसके दो अफसर और दो-तिहाई सेना खेद रही। हैरतअंगेज बात यह है कि अंग्रेजों को यह क्षति अप्रैल, 1858 में तब सहनी पड़ी, जब वे दिल्ली और लखनऊ पर अधिकार कर चुके थे। उन्हें यह मात उन सैनिकों ने दी थी, जो एक लंबी यात्रा करके थके हुए थे और जिनका वृद्ध नेता घायल था। शाहाबाद के संघर्ष में जनता, सिपाहियों और उनके नेताओं ने भारत के अन्य स्थानों से सैनिक कार्रवाई को उच्चतम स्तर तक उठाया। उन्होंने अंग्रेजों की छावनियों और शहरों में बंद रहने पर मजबूर किया। अपनी पुस्तक वार ऑफ इंडियन इंडिपेंडेंस में सावरकर लिखते हैं - 1857 में क्रांतिकारियों के जितने नेता थे, उनमें कोई ऐसा नहीं था, जो सैनिक योग्यता में कुंअर सिंह से बढ़कर हो। स्वाधीनता संग्राम में छापामार लड़ाई की उपयोगिता क्या है, इस बात को तुरन्त भली प्रकार उन्होंने ही समझा था और वही अकेले ऐसा नेता थे, जो शिवाजी जैसे सिद्ध छापामार योद्धा की कुशल नीति का अनुसरण कर सके। वे आगे लिखते हैं- कुंअर सिंह महाराष्ट्र के महान सेनानी शिवाजी के समान अपनी सेना को कभी पस्त नहीं होने देते थे। उन्होंने स्वयं तथा अपने सैनिकों पूर्ण विश्वास को जन्म दिया और इसी के चलते उनके सिपाही हमेशा उनके प्रति वफादार बने रहे। अपनी व्यक्तिगत वीरता, अनुशासन और साहस द्वारा वे हमेशा अपने सैनिकों के लिए प्रेरणास्रोत बने रहे। उन्होंने लड़ने और लड़ाई से बचने दोनों छापामार लड़ाई के सकारात्मक और नकारात्मक दोनों पक्षों में अनुपम कौशल का परिचय दिया, और यही कारण है कि शत्रु को धूल चटाकर, अपनी गौरवपूर्ण विजय के बीच, स्वतंत्रता की पताका के नीचे अपने स्वाधीन सिंहासन पर बैठने के बाद इस वृद्ध वीर, महान भारतवासी को 26 अप्रैल, 1858 को गौरवपूर्ण मृत्यु प्राप्त हुई। कुंअर सिंह की रचनात्मक प्रतिभा, देशभक्ति और सूझबूझ और साहस का ही परिणाम था कि उन्होंने किसान जनता के आधार पर गांवों में स्वाधीन राजसत्ता संगठित की। 30 जुलाई, 1858 को पटना के कमीश्नर टेलर ने लिखा था -- जगदीशपुर के पास विद्रोहियों का मुख्य दल अंग्रेजों की तरह कमीश्नर, जज, और मजिस्ट्रेट नियुक्त कर रहा है। वे नियमित रूप से अंग्रेजों के मित्रों की रियासतें बेंच देते हैं। अंग्रेजों ने यहां के किसानों और सामंतों के विरूद्ध जो नीति अपनाई थी, उसी का अनुकरण करके विद्रोही सैनिकों ने अंग्रेजों के मित्रों को दंड दिया। कहने का

अर्थ है कि कुंअर सिंह और जनता के बीच परस्पर विश्वास और भरोसे का अटूट बंधन कायम था और आज भी कायम है।

उनकी मृत्यु के बाद अंग्रेजी हुकूमत ने उनकी जमींदारी जब्त करके उसे नीलाम कर दिया और खरीददार बना अर्नेस्ट मेलॉन नाम का एक अंग्रेज। लगभग 50 वर्षों बाद श्रीनिवास प्रसाद सिंह, जो जगदीशपुर जमींदारी के असली वारिस थे, ने फिर से अपनी जमींदारी खरीद ली। कुंअर सिंह के सैन्य-नेतृत्व की बड़ाई मार्क्स और एंजिल जैसे विचारकों ने भी की है। 15 जून,1858 को दी न्यूयॉर्क डेली ट्रिब्यून के लिए लिखे लेख में मार्क्स ने कुंअर सिंह को गुरिल्ला युद्ध का असली उस्ताद बताया है, एंजिल्स ने लिखा – 'कुंअर सिंह और अमर सिंह गुरिल्ला युद्ध शैली के महारथी हैं।' अमर सिंह के बारे में एंजिल्स कहता है- गुरिल्ला युद्धशैली में अमर सिंह का कोई सानी नहीं है। चुपचाप इंतजार करने के बदले उसे जहां मौका मिलता है, वह अंग्रेजों पर आक्रमण करता है। शास्त्र और लोक दोनों ही कुंअर सिंह की वीरता और सैन्य कुशलता की प्रशंसा मुक्तकंठ से करते हैं। पूरा भोजपुरी लोक-साहित्य कुंअर सिंह की वीरता के गीत गाता है। बाबू कुंअर सिंह तेगवा बहादुर, बंगला में उड़ेला अबीर, या बाबू कुंअर सिंह तोहरे राज बिनु हम ना रंगइबो केसरिया, या लिखी-लिखी पतिया पेठवले कुंअर सिंह सुन हो अमर सिंह भाई, जैसे होली गीत बिहार के हर गांव में आज भी गाए जाते हैं। भोजपुरी में कुंअर सिंह को लेकर अनेक रचनाएं लिखी गई हैं और गीतों का तो कहना ही क्या। ऐसे सैकड़ों गीत हैं, जिनमें कुंअर सिंह की बहादुरी और कीर्ति का बखान है। रामकवि ने कुंअर सिंह की लड़ाई पर क्या सुंदर रचना रची है- जैसे मृगराज गजराजन के झुंडन प्रबल प्रचंड सुंड खंडत उदंड हैं जैसे बाजि लपकी लपेट के लवान दल मली-मली डारत प्रचारत विहंड है। कहे रामकवि जैसे गरुड़ गरब गही अहिकुल दंड-दंड मेटत घम तैसे ही कुंअर सिंह कीरति अमर मंडी फौज फिरंगानी की करी-करी खंड है। भोजपुरी प्रदेश का कोना-कोना उनकी बहादुरी पर इतराता है, अगराता है। सचमुच जब ढलानी में उनका यह ताव था तो उठानी में क्या रंग रहा होगा। इस संदर्भ में भोजपुरी इलाकों में एक कहावत कही जाती है कि जब अंग्रेजों से युद्ध ठना तो कुंअर सिंह हमेशा यही कहा करते थे कि- जो रे ससुरी गदर अइलिस त, बाकी बुढारी में नू। तनिक जवानी में आइल रहितिस।

नगर बनाम ग्राम आधुनिकता और परम्परा का अंतर्द्वंद्व

डॉ. ऋषिकेश राय

"शुकसागर" में भविष्य के समाज दर्शन की रूपरेखा स्पष्ट करते हुए शुक ने राजा परीक्षित को बतलाया कि कलिकाल में नगरों का राज होगा। गाँव सर्वतोभावेन नागर संस्कृति के अधीनस्थ होंगे। नगर बनाम ग्राम संस्कृति का यह विभाजन सभ्यता के दो प्रमुख रूपों का प्राचीनतम भेद है। पुरातत्व के सिद्धांतों के अनुसार सांस्कृतिक प्रतिमानों के विभेद का सैद्धांतिक आधार भी यह ग्राम्य-नागर संस्कृति संकुलों का वैषम्य ही है। हड़प्पा संस्कृति के मूल्यों एवं विशिष्टताओं की परिकल्पना का प्रस्थान इस तथ्य में निहित है कि यह एक नागर सभ्यता थी। इसके बरक्स आर्यजन ग्रामीण संस्कृति के अधिष्ठाता थे।

खाद्य संग्रहण से उन्नततर कृषि व्यवस्था में अंतरण के फलस्वरूप ग्राम अस्तित्व में आते हैं। आर्थिक जीवन के रूप में कृषि व्यवस्था ही ग्राम की साभ्यतिक संरचना की बुनियाद होती है। नगर विनिमय व्यवस्था के स्थापित हो जाने पर इसके केन्द्र के रूप में विकसित होते हैं। मुद्रा प्रसार का प्राचुर्य इनकी स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। विनिमय केन्द्रों के रूप में स्थापित सौदागरी पूँजीवादी नगरों का सांस्कृतिक जीवन पृथकता की ओर अग्रसर होता है। बुनियादी ग्रामीण मूल्यों से विचलन की शुरुआत होने पर भी वे पूँजीवादी औद्योगिक उत्पादन वाले शहरी केन्द्रों से भिन्न होते हैं। पूँजीवादी औद्योगिक केन्द्रों के रूप में विकसित होने वाले नगर अपने स्वतंत्र सांस्कृतिक मूल्य स्थापित कर लेते हैं। इन मूल्यों की प्रेरणाएं एवं संदर्भ प्राय: अन्य बड़े महानगरीय संस्कृति मानकों, अथवा पूर्व औपनिवेशिक प्रभु राष्ट्रों की राजधानियों में अवस्थित होते हैं।

यह स्थिति सांस्कृतिक मूल्यों के टकराव में अभिव्यक्त होती है। इसे परम्परा और आधुनिकता यानी ग्रामीण समाज और शहरी समाज के सांस्कृतिक द्वंद्व के अर्थों में परिभाषिक किया जाता है। भारतीय ग्राम समाज के पश्चिमी विमर्शों में लोकप्रिय छवि एक परिवर्तनरोधी स्थिर एवं परम्परागत समाज की रही है। यह देश के अन्य हिस्सों में होने वाले परिवर्तनों से पूरी तरह निर्लिप्त एवं अनासक्त रहा है। भूमि कर देने के अलावा इसका अन्य किसी प्रकार का साबका राज्य व्यवस्था से नहीं रहा है। एक अर्थ में ग्रामों को स्वावलम्बी गणराज्यों के रूप में परिभाषित करने की प्रवृत्ति इतिहासकारों की रही है। मार्क्स की भारत के सम्बन्ध में प्राथमिक अवधारणाएं भी इसी तथ्य पर अवलम्बित हैं, कि भारतीय समाज एक ग्रामीण समुदाय है, जो अपनी आवश्यकताओं के लिए आत्मनिर्भर है

तथा भूमि यहाँ एक ऐसी वस्तु है, जिसका हस्तांतरण संभव नहीं। ऐतिहासिक तथ्यों के अनुशीलन से यह ज्ञात होता है कि भारत में विनिमय केन्द्रों के रूप में नगर सामंती पतन के दौर में स्थापित होते रहे हैं, एवं भूमि के क्रय-विक्रय की प्रथा भी प्रचलित थी। पन्द्रहवीं–सोलहवीं सदी में आगरा, दिल्ली, सूरत और ढाका जैसे नगर विश्व व्यापार के केन्द्र थे।

औपनिवेशिकता की स्थापना के साथ ही भारत के ग्रामीण जीवन के संतुलन और इसकी सुख शांति पर ग्रहण लग गया। ग्रामों की आत्मनिर्भरता और स्वायत्तता का हनन होने लगा। उसके सुव्यवस्थित जीवन को औपनिवेशिकता के कीटाणुओं ने संक्रमित कर दिया। किसी भी देश के सांस्कृतिक औदार्य को विनष्ट करने के औपनिवेशिकता के दो हथियार प्रमुख हैं पहला, शिक्षा व्यवस्था का नाश एवं दूसरा न्याय व्यवस्था में अपने हितों का अभिनिवेश। अंग्रेजों ने भी इस सूत्र का अक्षरश: पालन किया। धर्मपाल ने अपनी किताब "भारतीय चित्तमानस और काल" में दर्शाया है कि किस तरह औपनिवेशिकता ने अपने हित पोषणार्थ, भारत की सुव्यवस्थित, उपयोगी एवं देशज शिक्षण परम्परा को, उसके आर्थिक हितों पर कुठाराघात कर विपर्यस्त एवं विध्वस्त कर दिया। अंग्रेजों के भारत आगमन के पूर्व हमारी शिक्षा व्यवस्था किसी भी सभ्य देश से कमतर नहीं थी। बंगाल में अंग्रेजी आधिपत्य स्थापित होने के समय यहाँ अस्सी हजार पाठशालाएं संचालित होती थीं। औसत रूप में प्रत्येक चार सौ व्यक्तियों पर एक पाठशाला थी। केवल बंगाल में ही नहीं बल्कि पूरे देश में शिक्षा व्यवस्था सुचारू रूप से संचालित थी। सुंदरलाल ने "भारतीय स्वाधीनता आंदोलन का इतिहास" में 1823 ई. में कर्नाटक (तत्कालीन मद्रास प्रेसीडेन्सी) के बेलारी के कलेक्टर कैम्पबेल की एक रिपोर्ट उदधृत की है। इससे भारतीय शिक्षा व्यवस्था के गुणों पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। वे लिखते हैं- "जिस व्यवस्था के अनुसार भारत की पाठशालाओं में बच्चों को लिखना पढ़ना सिखाया जाता है और जिस ढंग से ऊँचे दर्जे के विद्यार्थी नीचे दर्जे के विद्यार्थियों को शिक्षा देते हैं, साथ-साथ अपना भी ज्ञान पक्का करते चलते हैं, यह समस्त प्रणाली निसन्देह प्रशंसनीय है। इंग्लिस्तान में उसका जो अनुकरण किया गया है, वह उसके सर्वथा योग्य है।"

अंग्रेजों की विभेदमूलक वाणिज्यिक नीतियों ने यहाँ के उद्योग धंधों को चौपट कर दिया। परिणामस्वरूप धन तेजी से योरोपियनों के हाथों में पहुँचने लगा। इनको अंग्रेजी शासन ने यह आज्ञा दे रखी थी कि अस्थायी तौर पर भी वे इस धन को भारत में न खर्चें। इसके साथ-साथ कृषि व्यवस्था पर भी भारी लगान का बोझ डाल दिया गया। लगान वसूली में नृशंस तरीके इस्तेमाल होते थे।

औपनिवेशिक शोषण के जुए में पिसते ग्रामीण जनों की आर्थिक अवस्था इतनी दयनीय होती गई कि वे अपने बच्चों से भी श्रम कराने को बाध्य हो गए।

भारतीय उद्योग-धंधों के नाश, पंचायती व्यवस्था की सुनियोजित समाप्ति पृष्ठपोषकों की आर्थिक स्थिति में आई अवनति ने भारतीय देशी शिक्षण प्रणाली के निर्मूलन की भूमिका रच दी। विदेशी ढंग पर विदेशी भाषा में शिक्षा व्यवस्था संचालित करने का सबसे बड़ा दुष्परिणाम यह हुआ कि शिक्षा की यह व्यवस्था ग्रामों से दूर ही रही। इसमें शिक्षित छात्र देशज परम्परा, ज्ञान और संवेदना से विमुक्त होते गए। देश के वृहद्तर सरोकारों से उनका लेना-देना खत्म हो गया और वे अपनी कल्पना के मनोराज्य में विचरण करने लगे।

इस शिक्षा ने भारत में एक ऐसा वर्ग पैदा किया जो शहरी चकाचौंध में डूब गया। वह ग्रामीण जीवन को तुच्छ और हेय समझने लगा। ग्रामीण जन मूर्खता के पर्याय माने जाने लगे। गाँव के लोग इस मंहगी और विरल शिक्षा पद्धति से दूर होते गए। इस तरह औपनिवेशिक शिक्षा पद्धति ने पहली बार भारतीय समाज में ग्रामीण एवं शहरी विभाजन को जन्म दिया। यह विभाजन औपनिवेशिकता सम्पोषित नीतियों के प्रभाव में और गहराता गया। धीरे-धीरे ग्राम और शहरों की छवि विरोधी युग्मों के रूप में स्थिर होने लगी। पंचायतों के विघटन और औपनिवेशिक न्याय प्रणाली की स्थापना ने ग्रामों की स्वायत्ता को समाप्त कर उन्हें शहरों का आश्रित बना देने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ी। पंचायत व्यवस्था भारतीय समाज का एक प्रमुख आधार स्तंभ रही है। 10 वीं सदी के ग्रंथ "शुक्रनीतिसार" में पंचायतों की चर्चा एक निर्वाचित संस्था के रूप में की गई है, जिन्हें न्यायपालिका और कार्यपालिका दोनों प्रकार के अधिकार प्राप्त थे। प्रारम्भ में ब्रिटिश लोगों ने पंचायतों को ग्रामीण गणतंत्र के रूप में चिन्हित किया था। चार्ल्स मेटकाफ ने इन्हें स्वतंत्रता का आधार कहा था। बाद में औपनिवेशिक नीति के तहत कर संग्रहण में पंचायतों के स्थान पर व्यक्तिगत उत्तरदायित्व को महत्व दिया जाने लगा। पंचायतों के लोप ने संस्थागत शून्यता को जन्म दिया जिसकी भरपाई जिला बोर्डों की स्थापना द्वारा करने का प्रयास किया गया। साइमन कमीशन ने इन बोर्डों की विफलता को रेखांकित किया था। ग्राम पंचायतों की समाप्ति के साथ ही ग्रामीण समाज स्वावलम्बन और न्यायप्रियता के मूल्यों से डिगने लगा। कचहरियों ने सत्ता का केन्द्रीकरण ही नहीं किया बल्कि न्याय व्यवस्था की बागडोर अंग्रेजों और अंग्रेजी शिक्षित मध्यवर्ग के हाथों में दे दी। इस अंग्रेजी शिक्षित, अपनी जड़ों से विच्छिन्न संवेदनहीन

मध्यवर्ग के चरित्र को सर्वप्रथम बंकिमचंद ने अपने लेखन के माध्यम से सार्वजनिक कर दिया।

गाँव के पंच परमेश्वरों के सामने घर की बात छिपाने का कोई अवसर न था। दूसरी ओर आधुनिक कचहरियों में वकीलों, मुख्तारों का जाल बिछा था और जिसकी बुनियाद ही छल और फरेब पर टिकी थी। इस न्याय व्यवस्था ने औपनिवेशिक हितों को काफी लाभ पहुंचाया। ग्रामीण जीवन के स्वावलम्बन का नाश हुआ तथा एक बड़ा ग्रामीण समुदाय न्याय प्रशासन के लिए औपनिवेशिक राज्य के चंगुल में फंस गया।

इस न्याय व्यवस्था ने भारतीय किसानों को एक स्वकेंद्रित और परजीवी वर्ग के नागपाश में जकड़ दिया, जो अपनी आजीविका के लिए इस औपनिवेशिक न्याय प्रणाली पर आश्रित था तथा उसके अभिकर्ता के रूप में कार्य कर रहा था। औपनिवेशिकता एवं उसके द्वारा प्रायोजित शिक्षा प्रणाली ने मध्यवर्गीय मानस में एक सांस्कृतिक संकट को जन्म दिया। यह संकट परम्परा और आधुनिकता अथवा ग्रामीण एवं शहरी संस्कृति के बीच संघर्ष के रूप में परिभाषित किया जाता है। इस संघर्ष की अन्यतम पहचान मूल्यों के बीच टकराव के माध्यम से अभिव्यक्त होती है। इस वर्गीकरण में शहरों को आधुनिकता, औद्योगिक प्रगति टेक्नोलॉजी और इलेक्ट्रानिक्स आदि से सम्बद्ध किया जाता है, जबकि ग्रामीण संस्कृति को परम्परा, भरण-पोषण लायक कृषि और आर्थिक पिछड़ेपन से जोड़ा जाता है। परम्परा शांति, स्थिरता और सामुदायिकता की भावना से प्रकट होती है। आधुनिकता को अस्थिरता, अलगाव और द्रुत परिवर्तनों से सम्बद्ध किया जाता है। अनियंत्रित शहरीकरण को ग्रामीण परम्परा में मूर्त होने वाले मूल्यों का विनाशक समझा जाता है। यह ग्रामीण आदर्शों और मूल्यों के सामंजस्य को विनष्ट कर नगरों की अराजक और एकाकी जिंदगी को प्रश्रय देती है।

तीसरी दुनिया के देशों में रचित साहित्य की यह एक परिचित और प्रधान प्रवृत्ति है। समृद्धि और सुख की अंधी दौड़ की मृगमरीचिका में शहरी केन्द्रों की ओर पलायन करता और विस्थापन की पीड़ा झेलता किसान एक सुपरिचित चरित्र है। उपन्यासों में रचित यह किसान चरित्र विकासशील देशों में वर्तमान संस्कृति संकट का प्रतीक है। इस संकट को परम्परा और आधुनिकता के संघर्ष के रूप में देखा जाता है। इस धारणा का आधार इस भ्रममूलक मान्यता में है कि आधुनिक उद्योग, विज्ञान और तकनीक परम्परागत कृषि जीवन जन्य मूल्यों का विलोम है। कृषि संस्कृति के प्रतिमानों के ध्वंस को आधुनिक संवेदना और बोध के आविर्भाव की प्राथमिक एवं अनिवार्य शर्त माना जाता है। ग्रामीण तथा शहरी

जीवन को परस्पर स्वतंत्र एवं स्वायत्त आत्मनिर्भर द्वीपों के रूप में परिभाषित किया जाता है। दोनों के परिवेशों को पृथक समझना वस्तुत: निर्णय की भूल है। गाँव तथा शहर एक दूसरे की रचना में भागीदार होते हैं।

सामंती तथा अर्धसामंती प्रणालियों में नगर, ग्रामीण क्षेत्र द्वारा नियंत्रित होते हैं। पूंजीवादी विकास के साथ आधुनिक नगरों का अभ्युदय होता है। कालांतर में यह "सोने का शहर" ग्रामीण क्षेत्रों को अपने अधीन कर लेता है। ग्रामीण आबादी के मुकाबले शहरी आबादी में वृद्धि होती है तथा ग्रामीण जीवन के एक बड़े हिस्से को गँवई जड़ता से मुक्ति मिल जाती है। यह प्रक्रिया 19वीं सदी में घटित हुई। एंगेल्स ने शहरों के ग्रामों पर आधिपत्य का साम्य बुर्जुवा राष्ट्रों के किसान राष्ट्रों पर, सभ्य देशों के बर्बर देशों तथा पश्चिम के पूर्व पर आधिपत्य से स्थापित किया है।

विकासशील देशों में आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक पिछड़ापन भयंकर गरीबी, अशिक्षा, रोगग्रस्तता और जड़ता है, वह वस्तुत: औपनिवेशिक और नवऔपनिवेशिक चरणों में साम्राज्यवाद की देन है। औपनिवेशिक और नवऔपनिवेशिक प्रणाली उपकरणों में विकास लाकर तथा संचार माध्यमों को अत्युन्नत बनाकर बर्बर देशों को भी सभ्यता की परिधि में अन्तर्भूत कर लेती है। शस्त्रों के बल पर यह प्रणाली अन्य राष्ट्रों को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य कर देती है। वह इन राष्ट्रों को अपने विनाश की कीमत पर भी उत्पादन की बुर्जुवा प्रणाली अपनाने पर विवश कर देती है। सभ्यता के नाम पर नवऔपनिवेशिक प्रभुराष्ट्र अपनी जीवन पद्धति को तीसरी दुनिया के देशों पर थोप देते हैं। सांस्कृतिक प्रभुत्व के उपकरणों के रूप में औपनिवेशिकता आधुनिकता के छद्म के अलावा उन्नत तकनीक और विकास के दर्शन का उपयोग करती है। यह अधीन राष्ट्रों की भाषा, साहित्य, परम्परा और संवेदना में दरार पैदा कर देती है। तीसरी दुनिया के बहुजातीय, बहुभाषी समाजों में यह कार्य विभिन्न समूहों को प्रतिस्पर्धी के रूप में खड़ा करके किया जाता है। तीसरी दुनिया के इन देशों में कई महान सभ्यताओं की सम्पन्न परम्पराएं रही हैं। अपने समाजों की आवश्यकताओं के अनुरूप इन देशों की अपनी शासन व्यवस्थाएं अतीत में रही हैं। प्रजा द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित न होने पर भी ये शासनकारी प्रणालियाँ अपनी सत्ता की वैधता प्राधिकार के एक बहुस्तरीय ढांचे से प्राप्त करती थीं। इन संरचनाओं में समाज के विविध हितों और पहचानों के लिए स्पेस और गुंजाइश थी। आजादी के बाद, नवस्वतंत्र देशों में राष्ट्र राज्य व्यवस्था के विकास में इन पूर्ववर्ती प्रतिनिधिमूलक लोकतांत्रिक

रूपों का इस्तेमाल न कर आधुनिक योरोपीय लोकतांत्रिक प्रणाली को बिना विवेचना के अंगीकृत कर लिया गया।

तीसरी दुनिया के नव स्वतंत्र देशों ने पश्चिम के प्रतिनिधि मूलक लोकतंत्र की व्यवस्था को अपनाया तो जरूर परंतु अपने समाजों की ऐतिहासिक, सांस्कृतिक परम्पराओं के अनुरूप लोकतांत्रिक संस्थानों का विकास वे न कर सके। इसका कारण था पश्चिमीकरण से प्रभावित आधुनिकीकरण जो औपनिवेशिकता की कोख से उपजा था। लोकतंत्र की विजातीय प्रणाली ने इन देशों के समाजों को अपनी परम्पराओं के सार्थक एवं सप्राण अंशों से महरूम कर दिया। इस परिघटना ने लोकतंत्र के विश्वव्यापी प्रसार को अवरूद्ध किया, क्योंकि लोकतंत्र के विचार को पश्चिमी वर्चस्व के रूप में देखने की दृष्टि एवं प्रवृत्ति को एक तर्क उपलब्ध हो गया।

उपनिवेशवाद की सामाप्ति और भूमंडलीकरण की परियोजना के साथ एकमात्र राजनैतिक प्रणाली के रूप में उदारवादी लोकतंत्र का विचार बाजार के तर्क के रूप में प्रायोजित होने लगा। इसका प्रच्छन्न उद्देश्य है, वैश्विक अर्थव्यवस्था का एकीकरण एवं समरूपीकरण उदारवादी लोकतंत्र की सबसे बड़ी विडम्बना, इसका जनता के प्रति जबावदेह न होना और उसे किसी भी प्रकार की सहभागिता से वंचित रखना है। भूमंडलीकरण की व्यवस्था वैश्विक पूंजी की ताकत पर आधारित है जिसका संकेन्द्रण बहुराष्ट्रीय निगमों में हो गया है। इन निगमों का कुल व्यापार कई छोटे और मंझोले आकार की अर्थव्यवस्था वाले देशों के सकल घरेलू उत्पाद का कई गुना है। इन निगमों की विश्वव्यापी सत्ता का आधार नगर, वहाँ की संस्कृति और नवस्वतंत्र देशों में उभरा सत्ताधारी अभिजन वर्ग है। यह वर्ग कारपोरेट विश्व पूंजी का अभिकर्ता है एवं जिसने पूर्व औपनिवेशिक भाषाओं को मातृभाषा के रूप में अंगीकृत कर लिया है। यह वर्ग भूमंडलीय उत्तर आधुनिक सांस्कृतिक प्रतिमानों का सबसे बड़ा खैरख्वाह और पैरोकार है, जिसके सांस्कृतिक संदर्भ पूंजीवादी औद्योगिक देशों के नगर और राजधानियाँ हैं। भूमंडलीय समरूपीकरण की इस प्रक्रिया ने आर्थिक और सांस्कृतिक संदर्भों में बड़ी-बड़ी दरारें पैदा की हैं। रजनी कोठारी ने इस वैषम्य को महानगरों और कस्बाई-ग्रामीण जीवन के बीच अभिजनों और आम जनता के बीच और सरकारों की शासनकारी संस्थाओं और शासितों के बीच लक्षित किया है।

इस महानगरीय अभिजन वर्ग की संरचना व्यापारियों नौकरशाहों प्रबन्धकों और तकनीकीविदों से आकार पाती है। यह वर्ग स्थानीय सामुदायिक शासन प्रणाली से सशंकित होता है और उसे नापसंद करता है। राष्ट्र राज्य और

बाजार केन्द्रित अर्थव्यवस्था की पैरोकारी उसे उदार पूंजीवादी लोकतंत्र को शासन की सर्वोत्तम प्रणाली प्रतीत होने लगती है। स्थानीय सामुदायिक लोकतांत्रिक संस्थाएं बाजारवादी लोकतंत्र की संरचना और उसके मानकों के अनुसार बेमेल और असंगत सिद्ध होने लगती हैं। भूमंडलीकरण की सैद्धांतिकी में उदारवादी लोकतंत्रों की भूमिका विश्व पूंजीवाद को स्थापित, संचालित करने वाले औजारों की होती है। यह उदारवादी व्यवस्था अंतरराष्ट्रीय पूंजी के वैश्विक संचरण को राजनैतिक-संस्थागत गारण्टी प्रदान करती है। इस आयोजन का उद्देश्य पूरी दुनिया के संसाधनों तक अपनी एकाधिकारी पहुँच को सुनिश्चित करना होता है। उपभोक्तावाद पर आधारित महानगरीय संस्कृति और जीवन शैली को बढ़ावा देकर इस लक्ष्य की पूर्ति की जाती है। इसके लिए जीवन शैली को उपभोग और लोकतंत्र को उदारवादी रूप तक सीमित किया जाने लगता है। इसमें स्थानीय निर्णयकारी सहभागिता का संदर्भ विलुप्त हो जाता है।

तीसरी दुनिया के देशों में राज्य व्यवस्था के बाजार के पक्ष में हस्तक्षेप करने के कारण सामाजिक एवं सांस्कृतिक अस्थिरीकरण की समस्या प्रकट होती है। यह प्रक्रिया बहुजातीय राष्ट्रों में अस्मिता, वर्ग और जातीय संघर्षों के रूप में अभिव्यक्त होती है। इन अंतर्विरोधों को सम्बोधित करने के लिए राज्य व्यवस्था एक नए सांस्कृतिक आधार का निर्माण करना चाहती है, जिससे वह पूरे समाज का प्रबंधन एवं रूपांतरण कर सके। इस सत्ता को बनाए रखने की वैधता राज्य की आधुनिकीकरण और विकास की सार्वभौम विचारधाराओं की बिना पर मिल जाती है। आधुनिकता की यह विचारधारा नगर केन्द्रित होती है, जिसे प्राय: लोकतांत्रिक मांगों की कीमत पर परम्परा और ग्रामीण मूल्यों पर वरीयता दी जाती है।

परम्परा और आधुनिकता को दो विरोधी युग्मों के रूप में परिभाषित करने के क्रम में प्राय: यह तथ्य ओझल कर दिया जाता है कि दोनों एक-दूसरे के लिए अनिवार्य संदर्भ हैं। मनुष्य की सभ्यता, बोध और ज्ञान दर्शन सभी कुछ लम्बे समय से चली आती हुई प्रक्रिया का प्रतिफल है। यह विकास निसन्देह रैखिक एवं प्रगामी ही नहीं रहा है बल्कि इसमें पश्चगामिता अवरोध एवं अवक्षय की प्रवृत्तियाँ भी विद्यमान रही हैं। हेतुवाद पर अवलम्बित इन प्रतिलोमी प्रवृत्तियों के नैरन्तर्य को हम परम्परा के रूप में परिभाषित करते हैं। परम्परा में सप्राण एवं प्रासंगिक तत्व भी होते हैं तथा बेजान, जड़ तत्व भी। काल की गति के साथ सार्थक एवं जीवंत बने रहने वाले मूल्य की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। रूढ़ियाँ एवं अग्राह्य तत्व परम्परा के विकास में अवरोध उत्पन्न करते हैं, ये मृत तत्व परम्परा द्वारा छोड़ दिए जाते हैं। परम्परा का तात्पर्य अतीत से जुड़ा हुआ होना

नहीं होता। आ. हजारी प्र. द्विवेदी के शब्दों में परम्परा अतीत का समानार्थक नहीं है। परम्परा से हमें समूचा अतीत प्राप्त नहीं होता। उसका निरंतर निखरता, छंटता, बदलता हुआ रूप प्राप्त होता है। सम्प्रदाय उसे कहा जाता है जब प्रयत्नपूर्वक किसी आचार या विचार को पीढ़ियों तक सुरक्षित रखने का प्रयत्न होता है। सम्प्रदाय स्थिति संरक्षक है, इसलिए वह परम्परा के विरुद्ध है, और इतिहास के भी, साथ ही आधुनिकता के भी। परम्परा को पीढ़ियों में रीति रिवाजों, विश्वासों आदि के हस्तांतरण का माध्यम माना जाता है। विश्वास, मान्यताएं इसी के जरिए आने वाली पीढ़ियों तक पहुंचती हैं। किंतु परम्परा अनुवांशिक अथवा सहज साध्य नहीं होती, इसका अर्जन प्रयत्न से ही संभव है। परम्परा के सांस्कृतिक पक्ष को यत्नपूर्वक साधना पड़ता है। परम्परा चूँकि एक सनातन जीवन दृष्टि है, इसमें ऐसा बहुत कुछ न्यस्त होता है जिसका पुनराविष्कार जीवन के सम्मुख उपस्थित प्रश्नों के निराकरण के लिए आवश्यक है। परम्परा अगर नैसर्गिक रूप से अपनी रूढ़ियों को तोड़ती हुई अग्रसर और विकासमान रहे तो स्वत: आधुनिकीकृत होती रहती है। इस अर्थ में परम्परा निरंतर प्रगतिशील तत्वों को आत्मसात करती हुई, युगीन संदर्भों में आधुनिक बोध को स्थापित करती रहती है। परंतु परम्परा को आधुनिकता का निषेध करने वाले शक्ति के रूप में ग्रहण करने की दृष्टि भी लोकप्रिय है। उपर्युक्त दृष्टि का विकास औपनिवेशिकता पोषित आधुनिकता का प्रतिफल है। औपनिवेशिकता की मूल प्रेरणा भौतिक संसाधनों का दोहन करना था, जिसके कारण आधुनिकता का सीमित भौतिक आधार निर्मित किया गया। विचारधारा के रूप में इस अधकचरी आधुनिकता का उद्देश्य भारतीय मानस को वैचारिक एवं सांस्कृतिक स्तर पर अधिगत एवं अधिकृत करना था। 18 वीं-19 वीं सदी में मानसिक बौद्धिक उपनिवेशीकरण की यह प्रक्रिया अनवरत चलती रही। "श्वेतांगों की बौद्धिक जिम्मेदारी" (व्हाइट मैन्स इन्टेलेक्चुअल बर्डेन) के रूप में प्रचारित इस बौद्धिक– शैक्षणिक परियोजना का निहितार्थ पूरे पाखंड के साथ उपनिवेशों की गुलामी को सुदृढ़ करना था। 1859 ई. में जॉन स्टुअर्ट मिल ने बर्बर देशों को पराजित कर तथाकथित सभ्यों की अधीनता में लाने का सिद्धांत निरूपित किया था। उनकी नजर में भारतीय सांस्कृतिक दृष्टि से लोकतंत्र के अयोग्य थे। आधुनिकता की सैद्धांतिकी का निर्माण इसी परियोजना के लक्ष्यों और क्रियाशीलताओं से हुआ। बौद्धिक उपनिवेशीकरण की इस प्रक्रिया को पहचानते हुए सखाराम गणेश देउस्कर ने बांग्ला में लिखी अपनी किताब "देशेर कथा" में इसे "बुद्धि का युद्ध" की संज्ञा दी थी। उनके अनुसार यह भारतीयों की चित्त विजय का अभियान था, जिसका उद्देश्य भारतीय समाज को अपने हितों के अनुरूप ढालना

था। जॉन ट्रैवेलियन ने 1853 में पार्लियामेंट में इस तथ्य को स्वीकार किया था कि अंग्रेजी शिक्षा का उद्देश्य ऐसे मस्तिष्क वाली पीढ़ी का निर्माण था, जिसका उपयोग औपनिवेशिक हितों के लिए किया जा सके। अंग्रेजी शिक्षा और मानस में ढले प्रतिभाशाली युवक अंग्रेजी संस्कृति और प्रणाली के प्रचारक बन सकें। 1832 ई. में लार्ड बैंटिक ने इंग्लैण्ड स्थित अपने आकाओं को पत्र में लिखा था कि भारत में परम्परागत रूप से श्रद्धेय साधुओं और फकीरों आदि के प्रति सम्मान कम हुआ है। ब्राह्मणों, मठों, मंदिरों को मिलने वाले दान में कमी आई है और लोग अंग्रेजी रिवाज के खेल और मनोरंजनों में काफी धन व्यय करने लगे हैं। परंतु अंग्रेज इस उद्यम में पूर्णतया सफल न हो सके। उनकी सभ्यता और शिक्षा के संस्कारों में दीक्षित पीढ़ी ने उनके ही दिए उपकरणों से अपनी सभ्यता और परम्परा का विश्लेषण किया एवं उनके तत्वों से आत्मीय संवाद कायम करने की कोशिश शुरू कर दी इसके फलस्वरूप अंग्रेजों के द्वारा भारतीयों के चित्त विजय अभियान का एक क्रिटिक तैयार हुआ जरूर परंतु आधुनिकता के आधे-अधूरे संस्करण ने हमारे बोध एवं मानस में एक द्वैत और दुचित्तापन पैदा किया।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा और आधुनिकता के भौतिक आधारों ने एक मध्य वर्ग को जन्म दिया, जिसे भारतीय इतिहास में महत्वपूर्ण भूमिका निभानी थी। यह मध्य वर्ग पश्चिम की भौतिक उपलब्धियों की आभा से चमत्कृत था एवं जिसके लिए पश्चिमी मूल्य, मानक सामाजिक रूतबे का प्रतीक थे। पश्चिम की आधुनिकता से आक्रांत यह वर्ग इस तथ्य से अनजान था कि यह आधुनिकता अपने आवरण में औपनिवेशिक हितों की पृष्ठपोषक थी और इसका कोई सामंजस्य हमारी राष्ट्रीय, सामाजिक मान्यताओं से नहीं था। इस मध्यवर्ग ने आधुनिकता के छद्म में पोशीदा पश्चिमीकरण को पहचानने में भूल की। उन्होंने पश्चिमीकरण को ही सामाजिक परिवर्तन का विवेकपूर्ण रास्ता समझ लिया।

अंग्रेजों के सांस्कृतिक वर्चस्व के रूप में आधुनिकता रूपी पश्चिमीकरण के प्रसार के प्रतिरोध में पुनरुत्थानवाद ने भी सिर उठाया जो इसके प्रतिकार में परम्परा और सांस्कृतिक गौरव का इस्तेमाल करती थी। पुनरुत्थानवाद के जन्म के लिए आधुनिकता की सीमित, एकांगी और सतही अवधारणा का प्रसार ही उत्तरदायी था। आधुनिकता की विकृत और आंशिक उपस्थिति ने इसे समाज के एक व्यापक तबके के लिए अनुपलब्ध कर दिया, प्रतिक्रिया में इस तबके ने अतीत की सभ्यता से प्रतिरोध की ताकत अर्जित की।

मार्टिन मार्टी ने फंडामेटलिज्म को परिभाषित करते हुए लिखा है कि यह रुढ़िवाद, परम्परावाद या पुराणपंथी मानसिकता के करीब होने पर भी, वही नहीं

होता। वह जड़ अतीत की पूजा नहीं करता बल्कि उसकी वकालत करते हुए वह अपनी समकालीन चुनौतियों का जवाब ढूढता है। उसके अनुसार फंडामेटलिस्ट हमेशा प्रतिक्रियावादी होते हैं। उनका उभार परम्परा पर आलोचनात्मक हमले के खिलाफ जवाबी रूप में होता है। उनका आंदोलन परम्परा की रक्षा के लिए होता है। वे धर्म के सभी मूल तत्वों पर समान रूप से जोर नहीं देते बल्कि उसमें से कुछ तत्वों को चुन लेते हैं और उनकी रक्षा हर हालत में करने पर जोर देते हैं। ये अक्सर एक पुराने सुनहरे युग की कल्पना करते हैं, जब उन मूल तत्वों का बोलबाला था।

पुनरुत्थानवादी दृष्टि परम्परा के नैरंतर्य में तथा ऐतिहासिक विकास के क्रम में इसमें आए बदलावों, विकासों तथा उनके प्रभावों से उत्पन्न प्रवृत्तियों को स्वीकार नहीं करती। वह प्राचीन काल की किसी अवस्था को विशुद्ध और विशिष्ट मानकर उसकी पुनर्स्थापना की दुहाई देती है। पुनरुत्थानवादी रुझानों में धर्म की अन्यतम भूमिका होती है। वैसे 19 वीं एवं 20 वीं सदी के आरम्भ में सामंतवादी मूल्यों तथा औपनिवेशिक चेतना के प्रतिरोध में धर्म की महत्वपूर्ण भूमिका थी। तत्कालीन दौर में सामाजिक– राजनीतिक मुक्ति तथा देशभक्ति की आकांक्षाएं सभी धार्मिक रूपों में ही व्यक्त हुई थी। नवजागरण ने धर्म की रूढ़ियों का विरोध जरूर किया, किंतु भारत में आधुनिक सभ्यता के विकास के निर्माण के लिए धार्मिक प्रतीकों एवं रूपों का आश्रय भी लिया। परम्परा के जड़ तत्वों के अपवर्जन के द्वारा उसका परिष्कार एवं परिवर्द्धन किया गया जिसमें धर्म सुधार आंदोलनों की विशिष्ट भूमिका थी। राजा राममोहन में कबीर तथा चैतन्य के विचारों की अनुगूंज स्पष्ट सुनाई देती है। दयानंद सरस्वती ने वैदिक संस्कृति की ओर प्रत्यावर्तन का आह्वान किया, इस पुकार में पुनरुत्थानवादी स्पष्ट स्वरों की मौजूदगी के बावजूद धर्म के नाम पर प्रचलित सामाजिक कुसंस्कारों का मुखर विरोध उनके धार्मिक सांस्कृतिक विमर्शों में प्रकट हुआ। जाति पात, छूआछूत, मूर्तिपूजा का विरोध करने के अतिरिक्त आर्य समाज ने स्त्रियों की दशा में सुधार तथा हिंदी के प्रचार-प्रसार में श्लाघनीय कार्य किया। तत्कालीन पब्लिक स्फियर (लोक वृत्त) के सभी घटकों यथा वर्ग, धर्म, विचारधारा, राजनीति, शिक्षा, इतिहास, संस्कृति, राष्ट्रप्रेम, समाज सुधार, भाषा आंदोलन में आधुनिकता तथा परम्परा का द्वंद्व व्याप्त है। साहित्य में भी इसकी प्रतिध्वनि मुखर रूप में उपलब्ध है। हिंदी साहित्य भी इस प्रवृत्ति से अछूता नहीं है। भारतेन्दु का समग्र कृतित्व इस अंतर्द्वंद्व का सबसे प्रतिनिधि उदाहरण है। उनका व्यक्तित्व असंगतियों और अंतर्विरोधों का पुलिंदा है। साथ ही उसमें जनसंस्कृति और राष्ट्रीयता की प्रगतिशील परम्परा भी है। उस युग

के समूचे साहित्य में भावावेश और तथ्यनिरुपण की शैलियों के मध्य परम्परा और आधुनिकता का टकराव प्रत्यक्ष दिखाई देता है। नित्यानंद तिवारी ने लिखा है कि भारतेन्दु के समय पहली बार हमारा समाज विचार प्रक्रिया से परिचालित होने की तैयार कर रहा था। तमाम कोशिशों के बावजूद भारतेन्दु ब्रजभाषा और खड़ी बोली विवाद को हल नहीं कर पाए। इस ऐतिहासिक द्वंद्व के समाधान के लिए द्विवेदी युग तक प्रतीक्षा करनी पड़ी। द्विवेदी जी जातीय भाषा के विखंडन में सक्रिय औपनिवेशिक आशयों एवं अभिप्रायों को भलीभाँति समझते थे। औपनिवेशिक कूटनीति प्रत्यक्ष तथा प्रच्छन्न तरीके से अंग्रेजी के प्रयोग को बढ़ाने एवं हिंदी प्रयोग को प्रतिबंधित एवं निवारित करने के लिए कठिबद्ध थी। जातीय भाषा के रूप में हिंदी के विकास से राष्ट्रीय-सांस्कृतिक एकता की संभावित स्थिति से औपनिवेशिक ब्रिटिश सरकार संशकित थी और इसको रोकने के लिए हिंदी को विखंडित करने की योजना पर काम कर रही थी। जनपदीय उपभाषाओं को हिंदी से अलगाने की प्रचेष्टा के साथ-साथ हिंदुस्तानी के माध्यम से भी इसकी राह में रोड़े अटकाए गए। ग्रियर्सन का "भारत का भाषा सर्वेक्षण" भी इसी व्यापक साजिश का एक हिस्सा था।

19 वीं सदी के हिंदी साहित्य में आधुनिकता तथा नवजागरण दोनों के उदय के लक्षण प्राप्त होते हैं। इस काल के रचनाकारों ने परम्परा के प्राचीन महत्व और अर्वाचीन अर्थवत्ता की चुनौतियों का रचनात्मक स्तर पर सामना किया। किंतु तमाम अंतर्विरोधों के बावजूद इस काल के साहित्य की केन्द्रीय संवेदना उपनिवेशवादी संस्कृति का विरोध है। परंतु 19 वीं सदी के साहित्य की उपनिवेशविरोधी चेतना हो या समाज सुधार आंदोलनों के माध्यम से परम्परा के जड़ तत्वों का प्रतिरोध, इसका प्रभाव नगरीकृत पश्चिमी शिक्षा प्राप्त मध्यम वर्ग के कुछ संस्तरों तक ही महदूद रहा। इसके अलावा आर्य समाज (1857 ई.) ब्रह्म समाज (1875 ई.) प्रार्थना समाज (1870 ई.) और थियोसोफिकल सोसायटी (1882 ई.) द्वारा सामाजिक कुप्रथाओं के उन्मूलन का सनातनी पण्डितों और रुढ़िग्रस्त परम्परावादियों ने तीव्र विरोध किया। उन्होंने ब्रहम समाज और आर्यसमाज को हिन्दूतर पंथ घोषित किया और उनकी प्रगतिशील चिंतनशीलता को ईसाई धर्मांतरण की साजिशों से जोड़ा। हिंदी नवजागरण के लेखकों में भी इन रिफार्म आंदोलनों के विरोध का स्वर प्राप्त होता है। बालकृष्ण भट्ट ने लिखा, "कितना ही समझाओ कि हमारी वर्तमान हीन दशा का यही सब बुरा रिवाज कारण है, पेज के पेज रंग डालो, कौन सुनता है वरन इसे अपनी आर्यता का प्रधान और श्रेष्ठ अंग

मान लोग लिखने वाले की खिल्ली उड़ाते हैं, भ्रष्ट, बेहद नास्तिक इत्यादि उपाधि का खिताब उसको समाज से मिलना सहज हो जाता है।"

नवीन शिक्षा पद्धति के प्रसार ने भी आधुनिकता और परम्परा के अंतर्द्वंद्व को एक नया आयाम प्रदान किया। पश्चिमी ढंग की शिक्षा पद्धति में भारतीय अतीत का चित्रण नकारात्मक और न्यूनतावादी दृष्टिकोण से किया जाता था, जबकि घरेलू शिक्षा इसको महिमान्वित करती थी। पुरातात्विक खोजों ने अतीत को एक नई गरिमा से मंडित किया। उसकी समृद्धिशाली परम्परा ने शिक्षित भारतीयों में एक नया आत्मबोध पैदा किया। अंग्रेजों ने समकालीन यथार्थ और जनजीवन की दुरवस्था के वर्णन पर एक तरह से रोक लगा रखी थी। इसका समाधान तत्कालीन लेखकों ने इतिहास के आख्यानों में समकालीन आशयों और संवेदना के अभिनिवेश द्वारा किया। स्मृति, परम्परा और इतिहास के इस पुनराख्यान में पुनरुत्थान के तत्व भी समाहित थे। परम्परा को आधुनिकता के बरक्स खड़ा करने की कोशिश ने भी पुनरुत्थानवादी रूझानों को बल प्रदान किया। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन में कई प्रवृतियाँ सक्रिय थीं, जिन्होंने कई अंतर्विरोधों को भी जन्म दिया था। स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व अंग्रेजी शिक्षित शहरी मध्यवर्ग के हाथों में था। यह वर्ग अपनी मांगों को किसानों और ग्राम समाजों की मांगों के आवरण में प्रच्छन्न रूप से प्रस्तुत करता था।

इस संदर्भ में "प्राच्यविद्यावाद " की चर्चा भी प्रासंगिक है, जिसने भारतीय शिक्षित मध्यवर्ग को सांस्कृतिक गौरवबोध का एक नया परिप्रेक्ष्य तो अवश्य प्रदान किया, परंतु इसने साम्राज्यवादी मंसूबों की पूर्ति में भी सक्रिय अंशदान दिया। प्राच्यवाद की केन्द्रीय संरचना "आर्य नस्ल का सिद्धांत" था, जिसे भारत के वर्चस्वशील वर्गों ने अपार समर्थन दिया। यह वर्ग भारतीय परम्परा को भी प्राच्यवादी दृष्टिकोण से व्याख्यायित करता था। एक तरफ यह वर्ग औपनिवेशिकता से संघर्ष भी कर रहा था, तो दूसरी ओर उसके बौद्धिक प्रक्रम प्राच्यवाद की बौद्धिक मानसिक निर्मितियों को आत्मसात भी कर रहा था। सांस्कृतिक साम्राज्यवाद के स्वरूप में स्पष्टता आने के साथ, परम्परा के रूढ और जड़ तत्व विसर्जित होते गए और वह आधुनिकता के प्रतिमानों को समायोजित करती गई।

19 वीं सदी का भारतीय समाज धर्म के प्रभाव से आक्रांत समाज था। समाज सुधार, साहित्य, नेतृत्व वर्ग तथा कानून सबको धर्म ने प्रभावित किया था। इसने उस समय उभरती हुई राष्ट्रीयताओं को प्रभावित किया। चार्ल्स हिमसेथ ने भी उस समय भारत में उभरती कई राष्ट्रीयताओं को लक्षित किया है, जिनका आधार जाति, धर्म, प्रांत तथा कुछ का अखिल भारतीय राजनीति थी। इन सबके

माध्यम से आकार लेता हुआ भारतीय राष्ट्रवाद धार्मिक प्रतीकों का इस्तेमाल कर रहा था। यह यहाँ के दो प्रमुख सम्प्रदायों के आधार पर बंटी हुई राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए अभिशप्त हो चुका था। यह राष्ट्रवाद हिंदू और मुस्लिम पुनरुत्थानवादी रूझानों से ग्रस्त था। इस विखंडित राष्ट्रवाद ने अंतत: विभाजन की पृष्ठभूमि तैयार कर दी। इन राष्ट्रवादी निर्मितियों को पढ़े लिखे शहरी वर्ग ने अंजाम दिया था जिसमें ग्रामीण जीवन बोध एवं मूल्यों को कोई योगदान न था।

1948 ई. में जब संविधान का मसौदा प्रस्तुत किया गया, तब उसमें ग्राम पंचायतों वाला विधान नहीं रखा गया था। कुछ लोगों ने इसकी आलोचना की थी। अम्बेडकर ने इसका उत्तर देते हुए कहा था कि ग्राम समाजों के लिए भारतीय बुद्धिजीवी के मन में असीम प्रेम है। वे भारतीय समाज के अतीत में सुखमय तथा स्वच्छंद जीवन के लिए इन ग्राम समाजों को श्रेय देते हैं। उन्होंने आगे इन बुद्धिजीवियों को उत्तर देते हुए कहा था, कि जहाँ सब कुछ अनित्य है, वहाँ ये ग्राम समाज नित्य हैं। परंतु इन ग्राम समाजों का देश की गतिविधियों और उसके भाग्य निर्माण में भूमिका अत्यल्प है। देश के इतिहास में उनकी भूमिका गर्व करने लायक कत्तई नहीं है। वे केवल निचले और स्वार्थी स्तर पर बने हुए हैं। मेरा मत है कि ये ग्राम प्रजातंत्र भारत के विनाश के कारण हैं। "पूंजी" के प्रथम खण्ड में वर्णित मार्क्स के वर्णन से अम्बेडकर का वर्णन काफी मिलता है। दोनों का स्रोत एक ही है यानी ब्रिटिश पार्लियामेंट की रिपोर्ट। अम्बेडकर ने अपने विवेचन में ग्राम समाजों को उत्तर भारत तक सीमित बतलाया था। वास्तव में ग्राम समाजों के अलगाव की धारणा एक औपनिवेशिक निर्मिति थी, तथा उसकी स्वायत्तता को बहुत अतिरंजित करके दिखलाया गया था। भारतीय ग्राम समाजों की तरह "अप्रतिरोध के सिद्धांत" को भी भारतीय जीवन मूल्य के रूप में प्रचारित किया गया। अम्बेडकर ने भी इसे भारतीय मूल्य मानकर इसे प्रश्नांकित किया था। देश में हुए उतार चढ़ावों की ओर बिना ध्यान दिए उन्होंने निष्क्रियावाद की हमारे सार्वजनिक जीवन में क्रियाशील भूमिका की निंदा की थी। वस्तुत: अम्बेडकर की प्रतिक्रिया अंग्रेजी शिक्षित आधुनिक मानस की उपज थी, जो राष्ट्रवाद में प्रच्छन्न पुनरुत्थानवादी आशयों को शंका की दृष्टि से देखती थी।

भारतीय ग्राम समाजों के बारे में अपनी अवधारणा का विस्तार अम्बेडकर ग्रामीण जीवन मूल्यों तक करते हैं। निष्क्रियता और अप्रतिरोध को वे अस्तित्व की गुणवत्ता और सार के विचार से बेहद घटिया मूल्य ठहराते हैं। औद्योगिक क्रांति से पूर्व का समाज एवं अर्थव्यवस्था उनके लिए अत्यंत पीड़ादायी थी। भारत के

लोग औद्योगिक विकास में विश्वास नहीं करते, यह सिद्धांत प्रचारित करने के पीछे अंग्रेजों का व्यावसायिक हित था वे यहाँ अपना माल बेचना चाहते थे। भारत के लोग प्रतिरोध नहीं करते यह सिद्धांत गढ़कर वे अंग्रेजी राज के प्रति सहिष्णुता को सुनिश्चित करना चाहते थे। 1857 ई. के महासंग्राम को जनता की स्मृति से ओझल करने के ब्रिटिश प्रयत्नों में ही इस दावे की सच्चाई छुपी थी। शिवाजी क्षत्रिय नहीं थे, पर मुगलों से उन्होंने प्रबल युद्ध किया । 1857 ई. में किसानों ने देशी सेना से मिलकर अंग्रेजों की नींव हिला दी। वर्ण व्यवस्था से परे जाकर भी भारतीयों ने विदेशी शासन का प्रतिरोध किया। इतिहास यह प्रमाणित करता है कि निष्क्रियता का सिद्धांत यहाँ व्यापक रूप से कभी अपनाया नहीं गया। मनुष्य का व्यवहार उसके जीवन की परिस्थितियों, उसके वर्ग हितों द्वारा निर्धारित होता है। धार्मिक आदर्श और विश्वास इन वर्ग हितों के अनुगामी होते हैं। भारत इंग्लैण्ड में औद्योगिक क्रांति के पूर्व चीन के बाद सबसे बड़ा व्यापारिक देश था, जो विश्व के कुल उत्पादन का छब्बीस प्रतिशत हिस्सा पैदा करता था। अनादि काल से यह सूती वस्त्र उत्पादन का प्रमुखतम केन्द्र रहा है। प्राचीनकाल से लेकर औद्योगिक क्रांति तक संसार पीड़ादायी अर्थव्यवस्था में पिस रहा था, यह तथ्य उचित नहीं है। औद्योगिक क्रांति से पूर्व की अवस्था व्यापारिक पूंजीवाद के दौर में इटली में पुनर्जागरण घटित हुआ था। इसी पूंजीवाद के अन्तर्गत दिल्ली, सूरत, आगरा और ढाका विश्व व्यापार के केन्द्रों के रूप में विकसित हुए। योरोप में अर्धदासों और जमींदारों के बीच जितना आर्थिक फासला था, उतना हिंदुस्तान के किसानों और भूस्वामियों के बीच कभी भी नहीं था। भुखमरी, अकाल और बेरोजगारी के फलस्वरूप करोड़ों लोगों की अनाहार मृत्यु अंग्रेजी शासन की भारतीय इतिहास में सबसे त्रासद देन है।

स्वतंत्रता के उपरांत अंग्रेजी शिक्षित मध्यवर्ग के हाथों में सत्ता आई। यह वर्ग आधुनिकता और तकनीक प्रेरित विकास के महत्वकांक्षी स्पप्न देख रहा था। यह वर्ग पश्चिमी यूरोप और अमेरिका का औद्योगिक स्तर प्राप्त करना चाहता था। उसे अंतर्राष्ट्रीय सहायता और तकनीकी पथ प्रदर्शन की उम्मीद थी। विकास के इन अपरिचित नुस्खों की संभावनाओं का अतिरंजित आकलन किया गया था। प्रगति का यह प्रतिरूप चमत्कार की प्रतीक्षा करता ही रह गया। 1960 के अंत में सम्पन्न हरित क्रांति का कुछ असर देश के हिस्सों पर पड़ा। ग्रामीण आबादी के कुछ संस्तरों की आर्थिक स्थिति सुधरी और उनमें सामाजिक गतिशीलता पैदा हुई। परंतु व्यापक रूप से इसका लाभ समाज के सभी वर्गों और देश के सभी

हिस्सों को नहीं मिला। इसके फलस्वरूप असंतुलित विकास की स्थिति उत्पन्न हुई।

नव उपनिवेशवादी प्रभावों का सामना करने वाले देशों में एक नया मध्यवर्ग परिदृश्य पर प्रकट होने लगा, नई आर्थिक नीतियों के अंगीकरण ने इसकी संख्या और ताकत में इजाफा किया। भूमंडलीकरण एवं उदारीकृत अर्थव्यवस्था के पैरोकारों की नजर आज इस मध्य वर्ग पर है। यह वर्ग अत्यंत शक्तिशाली है, सत्ता का सूत्रधार और नियंता यही वर्ग है। यह वर्ग नगर केन्द्रित, अविश्वसनीय और चरम उपभोग के दर्शन में आस्थावान वर्ग है। यह वर्ग व्याकरण विहीन अंग्रेजी बोलता है। आनुवांशिक रूप से यह उस योरोपीय मध्यवर्ग का वंशज है जिसका जन्म फ्रांस की राज्य क्रांति से लेकर प्रथम विश्व युद्ध तक हुआ है। योरोप के मध्यवर्ग के विपरीत भारतीय मध्यवर्ग का विकास अपनी परम्पराओं से विच्छिन्न होकर स्वायत्तताहीन पर्यावरण में हुआ है। मानसिक पराधीनता के वातावरण में पला बढ़ा यह नव मध्यवर्ग उपभोक्ता संस्कृति का पक्षधर है। यह आनंदवादी, ग्लोबल और कामुक है। पुराना मध्यवर्ग उद्यमी था तो नया सट्टेबाज और कर्मकाण्डी है।

आज नगर केन्द्रित इस उपभोक्तावादी संस्कृति का हिरावल दस्ता वह युवा वर्ग है जो इसका संचालन और प्रबंधन कर रहा है। यह बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के हितों के अनुरूप पैदा हुआ "हाइटेक" वर्ग है। सफलताकामी, भोगवादी और आक्रामक किलर इस टिंक्ट वाली यह पीढ़ी अपने आप में मस्त और आत्मग्रस्त है। इसके सम्बन्ध में आलोकधन्वा ने लिखा है "21वीं सदी में भारत में जो नया मध्यवर्ग उभरा है, उसका सबसे डरावना लक्षण है उसके भीतर किसी भी प्रकार की सामाजिक या सामुदायिक भावना का अभाव। इतना ही नहीं इस वर्ग के भीतर भी किसी प्रकार की सहकारिता की भावना नहीं, एक दूसरे के साथ शत्रुतापूर्ण होड़ और गलाकाट प्रतिस्पर्धा की भावना है।"

मीडिया केन्द्रित इस उपभोक्तावादी युवा संस्कृति का प्रभाव ग्राम समाजों पर भी पड़ रहा है। सामुदायिकता और सहयोग की भावना तेजी से गाँवों से विलुप्त हो रही है। ग्रामीण समाज आज सत्ता के चिंतन में नहीं है। किसानों की आत्महत्या और जनजातियों का विस्थापन आज राष्ट्रीय बहस के मुद्दे नहीं बन पाते। ग्रामीण और शहरों के विभाजन की चौड़ी होती खाई ने कई सामाजिक, राजनीतिक समस्याओं को जन्म दिया है। अगर आर्थिक विकास को नैतिक जागरण से नहीं जोड़ा गया तो भविष्य समस्यापूर्ण और चुनौती से भरा होगा, इसमें कोई संदेह नहीं।

'मुक्तिबोध ने हिंदी कविता की संरचना और विचार को तोड़ दिया था'

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में पिछले दिनों 12 मई 2012 को शमशेर बहादुर सिंह की पुण्यतिथि पर 'एक बार फिर शमशेर' कार्यक्रम का आयोजन हुआ जिसमें निर्मला जैन, रंजना अरगड़े, गंगा प्रसाद 'विमल', केदारनाथ सिंह, नरेश सक्सेना, विभूति नारायण राय और ए. अरविंदाक्षन उपस्थित थे। इसी कार्यक्रम में रंजना अरगड़े ने शमशेर की पेंटिंग, उनकी हिंदी और उर्दू की अप्रकाशित पांडुलिपियां और उनके बहुत सारे दैनिक जीवन के उपयोग का सामान विश्वविद्यालय के स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय को सौंपा और कहा कि शमशेर का स्थायी पता अब हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा हो गया है। नरेश सक्सेना से 'बहुवचन' के लिये यह बातचीत विश्वविद्यालय के शोधार्थी उमाकान्त ने नागार्जुन सराय के उनके कमरे में की। बातचीत के दौरान उनके जीवन और हिंदी कविता तथा साहित्य से जुड़ी बहुत-सी रोचक बातें सामने आईं।

नरेश जी, आप पिछले पांच दशक से कविता लिख रहे हैं, आपकी पहली कविता 1958 में छपी थी, पर कविता लिखने का प्रारंभ कैसे हुआ, उसकी पृष्ठभूमि क्या थी?

मैं ग्वालियर में पैदा हुआ। उस समय ग्वालियर में वीरेंद्र मिश्र, आनंद मिश्र, 'चंचल', मुकुट बिहारी सरोज और हिंदी के उस समय के तमाम प्रतिष्ठित गीतकार थे। शिव मंगल सिंह 'सुमन' भी ग्वालियर के थे। ग्वालियर गीतों का और मंच का एक बहुत बड़ा शहर था। बड़े प्रभावशाली ढंग से ये अपनी कविताओं का पाठ करते थे। मैं हाई स्कूल में था, 1953-54 में। मैं नीचे बैठकर कवितायें सुना करता था। मेरी हिंदी अच्छी थी। मैं इन कवियों पर बड़ा मोहित था और इनकी कविताओं के गहरे प्रभाव में था। मैंने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि मैं मंच पर खुद काव्य पाठ करूंगा। एक दिन मैं ग्वालियर की सेंट्रल लाइब्रेरी में ज्ञानोदय पढ़ रहा था। उसमें बहुत छोटे-छोटे 4 मुक्तक रमा सिंह के छपे थे। छोटे-छोटे 4 मुक्तक और नीचे रमा सिंह लिखा था। वो इतने सरल थे कि मुझे लगा कि इतनी सरल पंक्तियां तो मैं भी लिख सकता हूं। कैसा लगेगा जब ऐसे 4 मुक्तक छपे हों और नीचे मेरा नाम लिखा हो। वो पंक्तियां थीं- **एक पल में उठ रहीं लहरें कई/एक पल में दिख रहीं खण्डित हुई/एक ऐसी भी लहर इनमें उठी/ रेत पर तस्वीर बन कर रह गयी**। मुझे लगा कि ये तो मैं भी कर सकता हूँ। बस मैं आया और मैंने तीन चार दिन तक बैठ कर सिर्फ मुक्तक लिखे। और ग्यारह मुक्तक लिख कर मैंने

ज्ञानोदय को ये लिख कर भेज दिया कि आप इनमें से कोई भी चार चुन सकते हैं। मेरी उम्र भी कम थी 16-17 साल। अगले हफ्ते ज्ञानोदय से पत्र आ गया। उस समय ज्ञानोदय कलकत्ता से छपता था। उसमें लिखा था कि मेरा पहला, दूसरा, चौथा और सातवां मुक्तक स्वीकार कर लिया गया है और यथा समय प्रकाशित होगा। मैं चिट्ठी को लेकर पूरे ग्वालियर में घूमा, जिन-जिन को भी मैं जानता था, उन सभी को ये पत्र दिखाया। उस समय तक ग्वालियर के उन कवियों में से ज्ञानोदय में कोई नहीं छपा था। 'ज्ञानोदय' व 'कल्पना' उस समय की बड़ी प्रतिष्ठित पत्रिकाएं थीं। तो लोग भी चकित थे कि इसकी स्वीकृति ज्ञानोदय से आ गयी है। खैर एक वर्ष बाद जब शरद देवड़ा उसके संपादक थे, तो वे चार मुक्तक उसमें छपे। पहले यदि आप कल्पना, ज्ञानोदय या धर्मयुग में छप गये तो पूरे भारत के पाठक, साहित्यकार आपको पढ़ लेते और जान लेते थे कि ये कोई रचनाकार है। बाद में जब मै बंबई गया तो वहां जिन-जिन साहित्यकारों से मुझे मिलाया गया, उन सभी ने कहा कि हां इनके मुक्तक ज्ञानोदय में मैंने पढ़े थे, तो मैं चकित था कि सभी ने मेरे मुक्तक पढ़े हैं। वो समय ऐसा था कि एक पत्रिका में छपने पर आपको पूरा देश जान सकता था, पर आज 10 किताबें छपने पर भी निश्चिंत नहीं हो सकते कि किसी ने आपको पढ़ा भी है। 1958 में इंजीनियरिंग कॉलेज जबलपुर में मेरा दाखिला हुआ था। मेरा इंजीनियरिंग का पहला साल था। जबलपुर जाते ही हरिशंकर परसाई और विनोद कुमार शुक्ल से मुलाकात हुई। परसाई जी के पास मुक्तिबोध आते थे, मुक्तिबोध से मेरी मुलाकात हुई। नामवर सिंह व्याख्यान के लिये आये थे। ये सब परसाई जी के पास ठहरते थे। हमारा रोज शाम को परसाई जी के घर जाना होता था। उसका कारण था कि उनके घर हमको सारी पत्रिकायें मिल जाती थीं। इसी लालच में हम जाते थे। उन्हीं ने विनोद कुमार शुक्ल से हमारा परिचय कराया। फिर सोमदत्त आये, ज्ञानरंजन आये और मलय भी वहां थे। एक महत्वपूर्ण बात, 1958 के समय की कवितायें या संग्रह देखें तो उनमें छायावादी शब्दावली छाई थी, चाहे केदारनाथ सिंह हो, कुंवरनारायण या श्रीकांत वर्मा हों, वह छायावाद का समय था। उससे मुक्ति नहीं थी। तीसरा सप्तक आया नहीं था, दूसरा कुछ पहले आया था। उसकी कविताओं की भाषा देख सकते हैं। लेकिन उन दिनों जबलपुर में जो कविता लिखी गयी वो 20 साल आगे की कविता थी। मैं बहुत भाग्यशाली था कि उस समय मैं ग्वालियर से जबलपुर आ गया। उसकी भाषा, उसका तेवर बिल्कुल अलग है। आप इस पर शोध करा सकते हैं। आज केदारनाथ सिंह और कुंवरनारायण के अलावा किसी भी महत्वपूर्ण कवि का नाम लें जैसे- अशोक वाजपेयी, विष्णु खरे,

भगवत रावत, चंद्रकांत देवताले, विनोद कुमार शुक्ल, सोमदत्त। ये सब कहां के हैं, मध्य प्रदेश के। ऐसा कैसे हुआ? इस पीढ़ी में और कोई नाम नहीं है। कभी ऐसे होता है कि कवियों की एक पूरी पीढ़ी में उत्तर प्रदेश, बिहार, राजस्थान का कोई कवि ही नहीं हो। इसका कारण क्या है?

यह तो शोध का विषय है?

हाँ, इस पर शोध की आवश्यकता है। 1957-58 की पत्रिकायें कवितायें खंगालकर देखने पर पता चलता है कि अमूमन लोग मध्य प्रदेश के थे। इस समय जबलपुर में मलय लिख रहे थे, विनोद कुमार शुक्ल लिख रहे थे, नरेश सक्सेना लिख रहे थे। सोमदत्त भी लिख रहे थे। इस पर चार पंक्ति की टिप्पणी भी हिंदी आलोचना में नहीं मिलती। उस समय मुक्तिबोध आगे चलने वाले थे, उन्होंने सारी कविता की धारा बदल दी थी। हालांकि मुक्तिबोध कि शब्दावली भी स्थिर नहीं थी बन रही थी। जबलपुर में मुक्तिबोध के जो काव्य पाठ हुए उसका विनोद कुमार शुक्ल पर अलग असर पड़ा, मुझ पर अलग पड़ा। अब मलय की 1958 कि एक कविता देखिये- **दौड़ती हुई सड़क नदी में गिर पड़ी/ गति ने उसे उस पार किया /और वह फिर दौड़ने लगी।** उसी दौर की एक अन्य कविता देखिये- **एक दूसरे का हाथ पकड़कर/ मकानों की एक लंबी कतार /कि जैसे लड़ने के लिये फौज तैयार खड़ी हो/तो जरूर ये मकान मजदूरों के होंगे**। ये 1958 में विनोद कुमार शुक्ल की कविता है। अब जरा उनकी भाषा देखिये जो हमसे सीनियर थे। विजय देव नारायण साही, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, कुंवरनारायण की कविताओं की भाषा आप देखेंगे तो पता चलेगा कि ये अजीबोगरीब काम हिंदी कविता में कैसे हुआ।

उस समय जबलपुर से वसुधा पत्रिका निकल रही थी, और अन्य पत्रिकायें भी थी।

हाँ, उसमें विनोद कुमार शुक्ल छपे भी थे। मेरी एक कविता थी 'अंधेरा' उसे देखिये- **कौन सी किस रोशनी के नहीं होने का अंधेरा/मुझे दिखता है अंधेरे में अंधेरा/ अंधेरे से अलग होता है अंधेरा/ कौन सी किस रोशनी के नहीं होने का अंधेरा।** ये थी 1958 की कविता जो अंधेरे को अंधेरे से अलग कर रही थी। मोमबत्ती के न होने का अंधेरा ट्यूबलाईट के न होने के अंधेरे से अलग होता है। लालटेन की रोशनी के न होने का अंधेरा मोमबती की रोशनी के न होने के अंधेरे से अलग होता है। 10-15 साल भी इस तेवर की कवितायें नहीं आयीं। तो भाषा की ये चेतना, ये बरीकियां भाषा का ये प्रयोग कहीं नहीं मिलेगा। इसका कारण वहां दो व्यक्तियों का होना था। हरिशंकर परसाई जो गद्य लिख रहे थे और मुक्तिबोध जो कवितायें लिख रहे थे, उनकी कविताओं के सीधे संपर्क में सिवाय

मध्य प्रदेश के अन्य लोग नहीं आये थे। किताब तो उनके मरने के बाद छपी थी। उस समय मेरी कवितायें मुक्तिबोध के साथ छप रहीं थीं। कल्पना देखिये 1962 या 1964 की, उसमें उनकी **चंबलघाटी** कविता के साथ मेरी कविता **एक घायल दृश्य चारों तरफ उड़ता है** छपी थी। उससे पहले नवलेखन में भी मेरी और मुक्तिबोध की कवितायें छपी थीं। मुझ जैसे नौसिखिये कवि की हैसियत ही क्या थी, लेकिन ये मुक्तिबोध और हरिशंकर परसाई के संस्पर्श और विनोद कुमार शुक्ल एवं ज्ञानरंजन की संगत का असर था। मुक्तिबोध के होने से भविष्य की एक पूरी पीढ़ी को तैयार कर दिया, जो हिंदी कविता में आज भी मौजूद है। 54 साल बाद तक भी ये पीढ़ी सक्रिय है। पहले मुक्तिबोध उज्जैन में थे फिर वे राजनांदगांव आ गये। चंद्रकांत देवताले उज्जैन में थे। विनोद कुमार शुक्ल राजनांदगांव में थे। मुक्तिबोध जबलपुर आते थे, तो जबलपुर में मैं, सोमदत्त और मलय थे। राजेश जोशी, कुमार अंबुज, एकांत श्रीवास्तव सब मध्य प्रदेश से ही क्यों आते हैं? ये परंपरा मुक्तिबोध ने पैदा की। मुक्तिबोध के एक दो काव्य पाठ ने हमारी सारी सेंसिबिलिटी ही बदल दी थी। कुछ कविताओं का कोई जोड़ नहीं मिलेगा।—**वो सिर्फ सूरज ही होता है/जो मारा जाता है हर शाम/ और फिर रोशनी के कटे हुए सिर/ टांग दिये जाते हैं खंबों से**। कटा हुआ सिर आपको हिंदी कविता में नहीं मिलेगा। वो आपको मिलेगा आल्हा में। ये मेरी कविता है। तो ये रेखांकन कटा हुआ सिर का बिंब कहां है, वो छायावाद में है? प्रयोगवाद में है? आल्हा के बाद कटा सिर नरेश सक्सेना के पास मिलेगा। विनोद कुमार शुक्ल की कविता है- **मैं अठन्नी के सिक्के पर देखता हूँ/ एक कटा हुआ सिर/ तो दूसरी अठन्नी पर उसका धड़ होना चाहिये/ रुपया तो तभी बनेगा**। इसके स्रोत मुक्तिबोध में मिलेंगे। मुक्तिबोध की कविता में एक अजीब तरह का उजाड़ सन्नाटा और भयानकता है, जिसने आगे की पीढ़ियों को हमेशा के लिये बदल दिया। सारे कवि अलग तरीके के हैं पर सबके विकास पर मुक्तिबोध ने ऐसा दूरगामी प्रभाव डाला कि ये एकदम से बदल गये और नई ऊर्जा से अपने व्यक्तित्व को और अपनी कविता को बदला।

तो इसे हम मुक्तिबोध स्कूल ऑफ पोएट्री कह सकते हैं?

मुक्तिबोध स्कूल इसलिये नहीं कह सकते कि मुक्तिबोध को कोई फ़ॉलो नहीं कर रहा है पर प्रभावित तो किया है। मुक्तिबोध की नकल करते कोई नहीं मिलेगा। बहुत बारीक मुद्दे हैं, पर मै मुक्तिबोध की छाया सिद्ध कर सकता हूँ। शायद और कोई न कर पाये क्योंकि मैंने बारीकी से देखा है। मुक्तिबोध ने उस समय की कविता की संरचना और विचार तोड़ दिये। हमारे भी टूट गये भरभराकर, अब हमें

नयी तरह से कविता की संरचना करनी थी। हम कवियों की पृष्ठभूमि और व्यक्तित्व अलग-अलग था। मैं इंजीनियरिंग पढ़ रहा था। कोई एग्रीकल्चर पढ़ रहा था। सोमदत्त वेटरनिरी साइंस पढ़ रहे थे, मलय हिंदी साहित्य पढ़ा रहे थे। चार लोग चार अलग क्षेत्रों में हैं अपनी युवा स्थिति में। उनका विकास अलग-अलग होगा पर छायावादोत्तर नहीं होगा क्योंकि ये निराला और प्रयोगवादी कवियों से प्रभावित पीढ़ी नहीं है। ये अपने आप में मौलिक ढंग से विकसित पीढ़ी है जिसके समक्ष मुक्तिबोध ने कविता के पूर्व-निर्मित ढांचों को तोड़ दिया था। अत: इसका मौलिक विकास हुआ है। विष्णु खरे की एक कविता है- **चिडियों तुम मरने के लिये कहां जाती हो।'** ये चिडियों के मरने की बात कहां से आ रही है। धर्मयुग में मेरी एक कविता छपती है-'**मुझे याद आता है बचपन में घर के सामने लटका / एक मरे हुए पक्षी का काला शरीर**। मरे हुए पक्षी की बात कविता में कहाँ से आ गयी? इस प्रकार जबलपुर, उज्जैन, भोपाल और मध्य प्रदेश के दूसरे शहरों में एक नयी तरह की कविता आयी। सभी ने मुक्तिबोध को व्यक्तिगत रूप से सुना था, क्योंकि उस समय दूसरा कोई जरिया नहीं था।

प्रभात त्रिपाठी, रमेश दत्त दुबे भी कविता लिखते हैं। वो भी मध्य प्रदेश के है और श्रीकांत वर्मा भी थे।

एक घटना बताता हूँ। एक बार मैंने परसाई जी से कहा कि कोई कविता संग्रह दे दीजिये। उस समय 1958 में परसाई जी को एक युवा कवि को देने के लिये कोई कविता संग्रह नहीं मिल रहा था, तो उन्होंने मुझे 'भटका मेघ' श्रीकांत वर्मा का दिया लेकिन देने के 15 मिनट बाद वापस ले लिया, उसमें भी वही छायावादी शब्दावली थी। फिर उन्होंने मुझे जबलपुर के एक स्थानीय कवि बाल पाण्डे का संग्रह 'आस्था की कगारें' दिया। उसकी एक कविता बताता हूं—**हमारे पांव पांव, तुम्हारे पांव चरण / क्यों भईया शिव चरण।** उनको लगा कि कविता का ये तेवर मेरे लिये ठीक है। मेरा पहला कविता संग्रह मेरे छपना प्रारंभ होने के 45 वर्ष बाद ही आया। बिना किसी संग्रह के भी मुझे **पहल** और **हिंदी साहित्य सम्मेलन प्रयाग का** पुरस्कार मिला। मुझे वो सब मिला जो किसी को किसी किताब के साथ ही मिलता है। कोई ऐसा समारोह कविता का नहीं था, जिसमें मैं नहीं था। जिस समय मैंने मुक्तिबोध सृजन पीठ में प्रवेश किया, मेरी आंखों में आंसू थे। वहाँ हरिशंकर परसाई रह चुके थे। मैं उस देहरी को बार-बार छू रहा था। मैं भीतर नहीं जा रहा था। हमारे पास हरिशंकर परसाई जैसा उदात्त व्यक्तित्व कोई दूसरा नहीं था। वो सिर्फ लेखन से गुजारा करते थे। मैंने उन्हें कभी किसी के सामने झुकते नहीं देखा। मुझे फिल्म **संबंध** के लिये 1991 में राष्ट्रीय पुरस्कार मिला। उस वर्ष ये

अवार्ड लता मंगेशकर, अमिताभ बच्चन, गोविंद निहलानी को मिला। पर किसी ने मेरी फिल्म ही नहीं देखी। मैंने कोई प्रदर्शन नहीं किया। मैं विमोचन भी नहीं करता अपनी किताबों का। मैंने गिरिराज किशोर के मशहूर उपन्यास पर फीचर फिल्म भी बनायी। इसको बनाना मुश्किल था। पुराने दौर को जीवित करना था। भोपाल दूरदर्शन के लिये एक सीरियल **पत्थर और पानी** बनाया था।

पक्षधर के नये अंक में विनोद कुमार शुक्ल का साक्षात्कार छपा है जिसमें उन्होंने कहा है कि मैं और नरेश सक्सेना साईकिल हाथ में लिये चलते हुए सारी-सारी रात कविता के बारे में बात करते हुए बिता देते थे।

हाँ वो सही कह रहे हैं। हम हिंदी कविता पर लगातार बातचीत करते थे, उस पर बहस करते थे। आप देख सकते हैं कि कविता कैसे बन रही थी या बदल रही थी। वैसे वर्ष 2000 तक मेरा कोई उल्लेख कहीं नहीं था वो शायद इसलिए कि मैंने कविता संग्रह नहीं छपवाया था, किंतु विश्वनाथ त्रिपाठी ने और फिर विष्णु खरे ने मेरी कविताओं पर लिखा और जैसा लिखा उसे याद करके मैं आज भी रोमांचित हो जाता हूँ। यह उन लोगों की और ज्ञानरंजन, अशोक वाजपेयी, लीलाधर मंडलोई जैसे मित्रों की सदाशयता ही थी जो मेरे वीतरागी स्वभाव के बावजूद मुझे गायब होने से बचाती रही। फिलहाल मैंने दूसरा संग्रह ज्ञानपीठ को दे दिया है। तीसरा भी तैयार है। कुछ गीत भी लिखे हैं। चंद्रदेव सिंह की 'पांच जोड़ बांसुरी' में केदारनाथ सिंह के साथ मेरे भी गीत हैं। मेरी कविता- **सुना हमारी और तुम्हारी बात पर/ आंगन की तुलसी को हरसिंगार ने/सुना सुना कर ताने मारे रात भर** काफी मशहूर रही है। धर्मयुग में मेरे गीत छपते थे। लोगों को ये भ्रम है कि मैं पहले गीत लिखता था फिर कविता में आया, जबकि मैं पहले कविता ही लिखता था, गीत बाद में लिखा। आज भी कभी-कभी मैं छंद में लिखता हूँ। मैं कविता में छंदों का प्रयोग करता हूँ। मेरी कविता का गद्य अलग किस्म का होता है। साधारण गद्य में कविता नहीं लिखी जाती। कविता का गद्य अलग होता ही है। कविता में शब्द की अद्वितीयता होती है। अगर आप बहुत थोड़े से शब्दों में ज्यादा बड़ी बात नहीं कहते या आप छोटी कविता में बड़ा अर्थ नहीं दे रहे हैं तो यह कविता ही नहीं है। कविता का जो अर्थ है, काव्य-पंक्ति का जो अर्थ है वो पंक्ति से बहुत बड़ा होता है। अगर आप बहुत सारी पंक्तियों मे बहुत थोड़ा सा अर्थ दे रहे हैं तो वो कविता नहीं होगी, कोई सजावटी चीज हो सकती है। वो शारीरिक स्तर पर, स्थूल स्तर पर आनंद देने वाली भी हो सकती है पर सूक्ष्म स्तर पर कोई बड़ा संदेश देने वाली कविता वो नहीं होगी। लोग साधारण सूचना देने वाले गद्य में छोटी-बड़ी पंक्तियां लिख कर सोच रहे हैं कि कविता लिख

रहे हैं। ये भ्रम भी न हो कि कविता सिर्फ लय से होती है, ध्वन्यात्मकता से होती है, बिंब से होती है। इन सभी से मिलकर कविता बनती है। अगर आपके हाथ में पत्थर है तो पत्थर को छोड़कर हीरा उठायेंगे। अगर हीरे को छोड़ेंगे तो कोई महत्वपूर्ण चीज़ आपके सामने पाने के लिए होनी चाहिये। इसी आधार पर देखें तो पाते हैं कि लोग अगर छंद, लय और ध्वनि को छोड़ रहे हैं तो इसके बदले क्या दे रहे हैं? वो क्या है- बड़ी दृष्टि, बड़ा तर्क, बड़ा बिंब, नई संवेदना जिसके लिए कविता के बुनियादी तत्वों को छोड़ा जा रहा है। कविता अगर ये मानती है कि वह विज्ञान से आगे हैं तो देखें कि जिस तरह वैज्ञानिक के पास फालतू शब्दावली नहीं होती, उसके पास सजावटी शब्द नहीं होते, उसी तरह कविता के पास भी फालतू और अधिक शब्दों के लिये जगह नहीं होती, सूक्ष्मता और स्पष्टता बहुत जरूरी है। यह कविता की भाषा का पैमाना है। मनुष्य के जीवन को बदलने के लिये भावना की जरूरत होती है। भौतिक चीजों से जीवन नही बदलता है, जीवन बदलता है संवेदना से। संवेदना से जो ज्ञान प्राप्त होता है जिसे संवेदनात्मक ज्ञान कहते हैं, जो मनुष्यता प्राप्त होती है वो काम कलाओं का है। वो आपको आह्लादित करेगी या दु:खी करेगी अगर नहीं करेगी तो फिर वो कविता नहीं होगी। कोई बड़ा रहस्योद्घाटन जीवन का करे या आपको आह्लादित करे कि वाह क्या बात कही है। कविता की भाषा की अद्वितीयता का ऐसा प्रभाव है कि लोग इसे बार-बार सुनना चाहते हैं, कहानी के साथ ऐसा नहीं होता। कहानी में लोग आगे की बात सुनना चाहते हैं।

आपकी रूचि साहित्य के साथ अन्य कलाओं जैसे फिल्म, संगीत आदि में है। इन माध्यमों ने आपकी कविता और इसकी भाषा को कैसे प्रभावित किया?

भाषा का सबसे सुंदर व सृजनात्मक रूप कविता में आता है। अब भाषा की सृजनात्मकता व सुंदर रूप के लिये तत्व अन्य कलाओं से लाये जाते हैं। संगीत, लय, चित्रकला, अभिनय भाषा से पहले आये हैं। मानव खतरे कैसे बताता होगा, जाहिर सी बात है अभिनय करके। नृत्य, रिदम, ताल पहले आया है। जो चीज बाद में आती है वो पुरानी चीजों का इस्तेमाल करती है। भाषा बाद में आई इसलिए इनका इस्तेमाल करती है। आप मुझे ऐसी कोई कविता या कहानी बता दीजिए जिसके बिम्ब आपके जेहन में नहीं रह गए हों। कोई फिल्म हो जिसके फ्रेम के बिम्ब नहीं याद हों। विचारों के बिंब नहीं बनते। विचारों के बिम्ब बहुत जटिल होते हैं, दरअसल होते ही नहीं है। एनर्जी का बिंब कैसा होगा? मेरी कविताओं में विज्ञान की भाषा आती है। बचपन के 10 साल तक तो नदी,

खरगोश, पेड़, चीतल, चट्टानें और जंगल ही मेरे बिंब थे। मेरा बचपन बीहड़ इलाके में बीता।

हिंदी की वर्तमान स्थिति और भविष्य के बारे में क्या सोचते हैं?

बहुत तरह के भ्रम फैले हुए हैं कि हिंदी बहुत फैल रही है जबकि वास्तविकता अलग है। हिंदी बाजार की भाषा है तो बाजार फैलेगा तो हिंदी भी फैलेगी पर हिंदी कभी भी सत्ता या संपत्ति की भाषा नहीं बन पाई। इसीलिये सत्ता पर भी वही लोग काबिज हैं जो अंग्रेजी के जानकार हैं तो ऐसे में चाहें वो मनमोहन सिंह हों या पी.चिदम्बरम हों। सिनेमा को ही लें तो देखतें हैं कि हिंदी में काम करने वाले सारे के सारे कलाकार हिंदी संवादों को रोमन में लिखवाते हैं। उन्हें ठीक से हिंदी पढ़ना ही नहीं आता। मेरा नाटक 'प्रेत' पुणे महोत्सव में खेला गया था। वह जब मुंबई के एन.सी.पी.ए. में प्रस्तुत किया जा रहा था, तो मैंने नाटक की स्क्रिप्ट मांगी। देख कर मैं हैरान था कि एक भी स्क्रिप्ट हिंदी में नहीं थी, सारी की सारी रोमन लिपि में ही लिखी हुई थीं। अंग्रेजी के पब्लिक स्कूलों में तो बच्चों को हिंदी लिखने पर ही पाबंदी है। उन्हें सारे विषय अंग्रेजी में ही पढ़ाये जाते है। हिंदी बोलने पर स्कूल वाले बच्चों को सज़ा देते हैं। धीरे-धीरे बच्चों के भीतर हिंदी को लेकर एक हीन भावना आ जाती है। उन्हें लगता है कि अंग्रेजी के अलावा हिंदी का कोई भविष्य अब इस देश में नहीं है। हिंदी न इस देश की भाषा कभी बन पाई न बन पाएगी। 65 साल बाद भी कोई नहीं कहता कि हिंदी में विज्ञान पढ़ाया जाए या अन्य विषय हिंदी माध्यम में आयें। 100 साल बाद कोई नहीं कहेगा कि विज्ञान या कला के विषयों को हिंदी मे पढ़ाइए। ए.पी.जे.अब्दुल कलाम या कहें कि दुनिया भर के सारे वैज्ञानिक इस बात पर एकमत हैं कि बच्चे को ज्ञान उसकी मातृभाषा में ही देनी चाहिये, जिससे उसका सर्वांगीण विकास हो। पर लोग इसे लागू नहीं करेंगे क्योंकि अगर ऐसा हो गया तो देशी अँग्रेज तो क्या बल्कि विदेशी अँग्रेजों का वर्चस्व हमारे ऊपर से खत्म हो जायेगा। अँग्रेजी के रहने से हम हमेशा पिछड़े रहेंगे। उनकी टूटी-फूटी भाषा बोलेंगे और हमेशा वही लोग प्रभुत्व में रहेंगे, जो हमारी नदियों, पहाडों, जंगलों को औने-पौने दामों में बेच डालेंगे और हमारे आदिवासियों को भूमिहीन बना देंगे। नक्सलवाद के नाम पर आदिवासियों के हाथों में बंदूकें आयेंगी क्योंकि भूखे रहने से अच्छा है कि मारकर ही मरें। आखिर ये कौन लोग हैं? आखिर हैं तो हमारे देश के वासी ही न और अगर लोग इस गलतफहमी का शिकार हैं कि हिंदी हमारी राजभाषा है, तो ऐसा न है न होगा। 10-12 साल में वो दिन भी आएगा कि लोग कहेंगे कि हमारी भाषा भोजपुरी है, अवधी है, बुंदेलखण्डी है। आगे लोकसभा ये प्रस्ताव पास करा

सकती है कि गलती से खड़ी बोली हिंदी को राजभाषा का दर्जा दे दिया गया है क्योंकि ये तो अल्पसंख्यकों की भाषा है, तो फिर कोई दूसरा विकल्प नहीं बचता। अतः अँग्रेजी को ही राजभाषा बना दिया जाये। अफ्रीका के तमाम देशों में ऐसा हुआ है, जहाँ उनकी अपनी मातृभाषायें खत्म हो गयी हैं। जो टूटी-फूटी भाषा में अपना काम चलाते हैं वो पिछड़े हैं और हमेशा पिछड़े ही रहेंगे।

आपके बचपन की स्मृतियाँ आपकी रचनाओं में किस तरह आती हैं।

मेरे पिता सिंचाई विभाग में थे। नहरों, नदियों, पानी के स्त्रोतों में ही मेरा बचपन बीता। मैं बना भी पानी का इंजीनियर। ये मेरा अपना चुनाव था। पानी मेरी कविताओं में कई रूपों में आता है। मेरे नये संग्रह में एक कविता 'पानी क्या कर रहा है' शीर्षक से है। एक अन्य कविता है जिसमें 'एक नदी का पानी मुझे कई नदियों को पार करा के एक प्यासे शहर ले जाना है'। पानी मेरी रोजी रही है, मेरी चिंता में भी रहा है। बचपन की स्मृतियों में नदियां ,चट्टानें, झरने रहे हैं। मेरी एक कविता में नदियों के नाम आते हैं जो कि लड़कियों के नाम हैं। उसके शब्द हैं- **गंगा, यमुना, कृष्णा, कावेरी, गोमती, अलकनंदा, नर्मदा, सरयू, ये लड़कियों के नाम हैं। चंबल किसी लड़की का नाम नहीं** । इसे सुनाते समय मेरा गला रूंध जाता है। स्त्री, नदियां, पानी कैसे एक दूसरे से मिल जाते हैं, ये मैं देखता था।

बचपन की कोई घटना, जिसने आपको सर्वाधिक प्रभावित किया हो?

बचपन की बात करें तो एक घटना ने मेरे भीतर जबर्दस्त साहस और मजबूती प्रदान की। मेरे बचपन में एक मावसिया नाम का आदमी था, जो घर में पानी लाने का काम करता था। एक बार जब वो पानी लेने कुएं पर गया जो कि जंगल के थोड़ा भीतर था, तो वहां उसका सामना शेर से हो गया। उसने शेर से बचने के लिये कुएं के पत्थर और बाल्टी का सहारा लिया। शेर से बचने के लिये मावसिया कुएं में कूद गया। शेर भी कुएं में गिर गया। कुएं में मावसिया की कमर तक पानी था, जबकि शेर पानी में डूबा जा रहा था। मावसिया की उंगलियां शेर के मुंह में फँसी थीं। उसने बहादुरी दिखाते हुए दूसरे हाथ से शेर को डुबो दिया। जब लोग ढूंढने निकले, तो कुएं में शेर और मावसिया को एक साथ पाया। मावसिया को बाहर निकालने में उसकी उंगलियां शेर के जबड़े में ही फँस कर कट गयीं। इस पूरी घटना ने मेरे बालपन पर बहुत गहरा प्रभाव डाला। उसकी कटी उंगलियां शेर से भिड़ कर जीतने का प्रतीक थीं। मैंने महसूस किया कि जब आप संघर्ष करने का दृढ़ निश्चय कर लेते हैं, तो हर चीज़ आपका साथ देने को तत्पर हो

जाती है। फिर चाहे वो कुएं का पत्थर हो या बाल्टी। ये संघर्ष मेरी कविताओं में आता है। मेरी इंजीनियरिंग की पढ़ाई के दौरान प्राप्त किया गया तमाम ज्ञान रेत, बालू, सीमेंट, दीवार की दरारें, दीवार के तनाव से उनका संबंध- सभी मेरी कविताओं के हिस्से बने हैं। इसी से वो कविता कि 'पानी क्या कर रहा है' में है- **पानी कैसे शीत कटिबंधो में, बर्फ बनकर के/ मछलियों का कवच बन गया है /और मछलियां जीवन का आनंद मना रही हैं/और पानी ने मछलियों को बचाने के लिए/बर्फ का रुप धारण किया हुआ है**। उस समय का सारा अनुभव बहुत सरल और स्वाभाविक रुप मे मनुष्य के जीवन का संदर्भ लेकर कविता में आता है, पदार्थ का संदर्भ लेकर नहीं आता है। इसी तरह दीवारों में दरार के संबंध मे एक कविता है- **खत्म हुआ ईंटों के जोड़ों का तनाव/ पलस्तर पर उभर आई हल्की सी मुस्कान/ दौड़ी-दौड़ी चिडिया ले आई अपना अन्न जल /फूटने लगे अंकुर जहां था तनाव/और होने लगा उत्सव/ हंसते-हंसते दोहरी हुई जाती है दीवार**। एक और कविता है 'कंक्रीट' जो रेत, बालू और सीमेंट को मिलाने के अनुपात के बहाने रिश्तों में दूसरों के लिये स्पेस की बात करती है।

विजय जी से आपकी शादी बहुत रोचक ढंग से हुई थी। बल्कि कहें तो हिंदी की सर्वाधिक दिलचस्प शादी रही है।

मेरी पत्नी जबलपुर से थीं। उनकी मां बेनीकुंवर बाई मशहूर शास्त्रीय गायिका और तवायफ थीं। बेनीबाई का कोठा जबलपुर के गुरंडी नाम के इलाके में था। वहीं मेरी पत्नी विजय रहती थीं। मेरा विवाह वहीं हुआ, वहीं बारात भी गयी। उनका कहना था कि यहां से तमाम लड़कियां शादी के नाम पर जाती हैं पर उनके साथ क्या होता है किसी को पता नहीं, इसलिये अगर शादी हो रही है तो बारात यहीं आयेगी। मेरी शादी में ज्ञानरंजन, विनोद कुमार शुक्ल, रवीन्द्र कालिया, सोमदत्त और हरिशंकर परसाई आदि शामिल थे। यहां तक कि मेरे निमंत्रण पत्र के उत्तरापेक्षी में तीन लोगों का नाम गया था, जिनमें हरिशंकर परसाई, भवानी प्रसाद तिवारी जो उस समय जबलपुर के मेयर थे और नर्मदा प्रसाद खरे, जो काफी मशहूर पत्रकार थे, शामिल थे। विजय को गायन का बहुत शौक था। उन्होंने आकाशवाणी व दूरदर्शन के लिये भी गाया था। उनका संगीत का ज्ञान बहुत बेहतर था। उन्हीं की बदौलत मेरी संगीत की समझ काफी बेहतर हुई। बांसुरी मैं काफी पहले से बजाता था। इन सभी ने मेरी कविताओं को संपन्न किया।

कविता की भाषा के बारे में आप क्या सोचते हैं?

भाषा से हम इस दुनिया को जानने की कोशिश करते हैं, पर भाषा किन चीज़ों से बनी है उसे ही भूल जाते हैं, भाषा तो बिंबों से बनी है, ध्वन्यात्मकता से बनी है, लय से बनी है, उन पर हमें ध्यान देना चाहिये। और जब वह कला में परिवर्तित होती है तो सूक्ष्मता की, सौंदर्य की और संवेदना की मांग करती है। स्थूल सौंदर्य की रचना तो इनसे हो जाती है जिसमे तुक हैं, लय हैं, ध्वनियां हैं पर कविता में आत्मा पड़ती है उसकी संवेदना से। कविता अपना काम श्रोता के पास करती है। मैं कविता लिखता बाद में हूँ, पहले मैं कविता कहता हूँ।

ये तो उर्दू की परंपरा है, शैर लिखने से पहले कहना।

हाँ मैं तभी लिखता हूँ जब मेरी कविता मुझे मोहती है।

'आरंभ' पत्रिका की शुरुआत कैसे हुई?

1964 में मेरी पहली नियुक्ति लखनऊ के कंस्ट्रक्शन डिपार्टमेन्ट में असि. इंजीनियर के रूप में हुई थी। पर वास्तव में मेरा मन साहित्य के लिए छटपटाता था। इंजीनियरिंग में मन नहीं लगता था। पर बचने का कोई उपाय नहीं था। इस काम में आप ज़रा भी लापरवाह नहीं हो सकते। इंजीनियरिंग के कामकाज की आपाधापी में जब भी मुझे समय मिलता था, मैं लखनऊ कॉफी हाउस की तरफ भागता था। वहां मुझे यशपाल, अमृतलाल नागर, भगवतीचरण वर्मा और राम मनोहर लोहिया जैसे तमाम साहित्यकार, राजनीतिज्ञ, पेंटर, पत्रकार आदि मिलते थे। वहाँ से हमने एक पत्रिका **आरंभ** की शुरुआत की। इसके बारे में लोग कम जानते हैं। मैने कई पत्रिकायें संपादित की हैं, जिसमें **रचना समय** का कविता विशेषांक है। उत्तर प्रदेश संगीत नाटक अकादमी की पत्रिका **छायानट** का संपादन किया। रवीन्द्र कालिया और ममता कालिया के साथ अमरकांत की रचनाओं पर **वर्ष** नाम की पुस्तक संपादित की और उससे पहले **आरंभ**। आरंभ में जो भी लोग थे, उनमें कोई भी हिंदी साहित्य का नहीं था। मै इंजीनियरिंग के क्षेत्र से था। जयकिशन पेंटर थे, सरोज पाल गोगी कला की छात्र थीं और यशपाल के भतीजे अनंत, विनोद भारद्वाज हिंदी साहित्य के विद्यार्थी नहीं थे। पर फिर भी इस टीम ने अपने समय के बड़े रचनाकार सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, भवानी प्रसाद मिश्र, श्रीकांत वर्मा जैसे कवियों की कमजोर रचनाओं को विनम्रतापूर्वक लौटा दिया और कहा कि ये वो कवितायें नहीं हैं जिन्हें हम आपकी प्रतिनिधि कविताएं कह सकें। हम ऐसे युवा रचनाकारों की रचनाओं को सामने लाना चाहते थे, जो आज भले ही

बड़ी रचनायें न लग रही हों पर अपने समय की प्रतिनिधि रचनाओं को सामने लाती हों। आज मैं बहुत आत्मविश्वास के साथ कह सकता हूँ कि **आरंभ** ने धूमिल और विनोद कुमार शुक्ल की रचनाओं को सबसे पहले प्रकाशित किया था। वो पत्रिका **आरंभ** थी, जिसने दोनों को महत्वपूर्ण कवियों के रूप में रेखांकित किया। विनोद कुमार शुक्ल पर पहली टिप्पणी मैंने **आरंभ** में ही लिखी थी। इनमें उनकी वह कविता प्रकाशित थी, जो आज तक कहीं भी प्रकाशित नहीं है।-**मुझमें जड़ें हैं/जड़ों से निकली जड़ें /और उनसे भी निकली हुई सिर्फ जड़ें ही हैं।** तब एलेक्स हालेय की किताब Roots का प्रकाशन नहीं हुआ था। उसके वर्षों बाद Roots का प्रकाशन हुआ। हिंदी साहित्य में भी जड़ों की बात अभी शुरू नहीं हुई थी। इसी कविता से हिंदी में जड़ों की बात इस ताकतवर बिंब के साथ शुरू हुई। **आरंभ** में हमने खास तौर पर प्रशंसा से भरे हुए एक भी पत्र नहीं छापा। अब जाकर विनोद भारद्वाज ने उन पत्रों को '**आरम्भ की दुनिया**' नाम से छपाया है।

क्या जबलपुर से भी 'आरंभ' का कोई अंक निकला था? **इसकी योजना कैसे बनी**?
अंक तो जबलपुर से नहीं निकला था। पर **आरंभ** की आरंभिक बातचीत जबलपुर में ही हुई। दरसल परसाई जी ने विनोद कुमार शुक्ल से कवितायें मांगी और उनकी 5 कविताएं छापी। मुझसे कुछ कवितायें माँगी तो मैंने अपनी 2 कविताएं दी वसुधा के लिए पर वसुधा का वो अंक निकला ही नहीं, आर्थिक कारणों से पत्रिका बंद हो गयी। मुझे खास तौर से बहुत दुःख हुआ। फिर एक दिन मैं, ज्ञानरंजन और विनोद कुमार शुक्ल बैठे और हमने एक पत्रिका निकालने की योजना बनायी। वहीं हमने उसका नाम **आरंभ** तय किया। फिर मैं पास होकर ग्वालियर आ गया। वहाँ से मेरी नियुक्ति लखनऊ में असिस्टेंट इंजीनियर के पद पर हो गयी। इस प्रकार **आंरभ** नाम मेरे साथ जबलपुर से लखनऊ आ गया। जब मैं ये पत्रिका प्रारंभ करने के बारे में सोच रहा था, तभी मेरी नजर एक पत्रिका पर पड़ी। उसका नाम **उन्मेष** था, जिसे विनोद भारद्वाज संपादित कर रहे थे। उस पत्रिका में मुझे कुछ भी बहुत स्तरीय नहीं लगा। अलबत्ता उसके आखिरी अंक में दो महत्वपूर्ण चीजें थीं, जिसमें एक राजकमल चौधरी की कविता और दूसरी जय कृष्ण के बनाये हुए रेखाचित्र थे। विनोद से मैंने कहा कि तुम अपने समय और श्रम की बर्बादी क्यों कर रहे हो? इसे बंद करो और हम एक नयी पत्रिका निकालते हैं जिसका नाम **आरंभ** रखेंगे। इस प्रकार ये पत्रिका प्रारंभ हुई। विनोद ने इसके पहले अंक में संपादक के रूप में मेरा नाम जाने का आग्रह किया पर इस पत्रिका में मैंने अपना नाम आगे कभी नहीं दिया। इसका एक कारण था, मेरी

नई-नई नौकरी थी, विभाग में मुझे कई सारे काम करने को मिले थे। उन कामों को करने में तमाम तरह की दिक्कतें आ रहीं थीं। लगातार अनेक मुद्दों पर मैं लोगों से उलझ जाता था। विभाग में मेरा झगड़ा शुरू हो गया था। मेरे क्रांतिकारी विचारों से लोग बड़े परेशान थे। मुझे लगा कि यदि ये लोग मेरे विचारों को पत्रिका में देखेंगे तो पक्का मेरा तबादला करा दिया जायेगा और ये पत्रिका आगे नहीं निकल पायेगी। अतः एक रणनीति के तहत मैने अपना नाम इस पत्रिका में प्रमुख रूप से नहीं दिया। पत्रिका के पीछे मेरा नाम छपता था, या फिर मेरी रचनाओं पर मेरा नाम होता था।

आप मध्य प्रदेश से लखनऊ गये। मध्य प्रदेश के साहित्यिक वातावरण का आपने जिक्र किया है। लखनऊ का साहित्यिक माहौल कैसा था?

जब मै लखनऊ गया तो वहाँ पर कुँवर नारायण अकेले थे। रघुवीर सहाय जा चुके थे। उनकी पत्रिका **युग चेतना** बंद हो चुकी थी। मनोहरश्याम जोशी भी अब वहाँ नहीं थे। कविता में वहाँ लगभग सन्नाटा फैला हुआ था। पत्रिकाएं कई निकल रही थीं। **उत्कर्ष** गोपाल उपाध्याय निकालते थे, **अर्थ** नामक एक छोटी पत्रिका शरद नामक युवक निकालता था। **आरंभ** हम लोग निकालते थे, ठाकुर प्रसाद सिंह **उत्तर प्रदेश संदेश** में कुछ रचनाएं देते रहते थे। तब लखनऊ में कविता से ज्यादा कथा साहित्य का ज़ोर था। अमृतलाल नागर, यशपाल, भगवती चरण वर्मा, श्रीलाल शुक्ल सभी कथाकार थे। केवल कुंवर नारायण कवि थे। कुंवर नारायण का भी कहानी संग्रह **आकारों के आस-पास** छप चुका था। उन दिनों धूमिल बनारस में रहते थे। उनके आखिरी गीत का संपादन मैंने किया था। धूमिल से जुड़ा एक रोचक वाक्या है। धूमिल कविता बहुत अच्छी लिखते थे पर उनकी रूचि गीतों में भी थी। मैंने उनसे कहा कि कहाँ गीतों के चक्कर में पड़े हो, कविता अच्छी लिखते हो, कविता ही लिखो। एक बार धूमिल के एक गीत में से मैंने दो पद काट दिये थे, जिससे धूमिल बहुत नाराज़ हुए उन्होंने आपत्ति की तो मैंने कहा कि आपकी शिकायत और अपनी तरफ़ से क्षमा याचना मैं पत्रिका के अगले अंक में अवश्य छापूंगा पर उसके साथ आपके काटे हुए पद मुखपृष्ठ पर छपेंगे। इसके बाद धूमिल कुछ ठण्डे हुए।

साठ के बाद की युवा-कविता का परिदृश्य कैसा था? **कविता को लेकर आलोचना में क्या बहस चल रही थी**?

उस समय नामवर सिंह और धर्मवीर भारती महत्वपूर्ण साहित्यिक चिंतक थे। ये लोग कविता के नाम पर अकविता के कवियों पर बहस कर रहे थे। उन्हीं को

युवा पीढ़ी के नाम पर प्रतिष्ठा दिला रहे थे, जो सबसे अयोग्य, सबसे उपेक्षणीय लोग थे, उन्हें प्रतिष्ठा दिला रहे थे, बहस करके। उस समय गुस्से में भरकर मैंने कुछ नाम लिये और सवाल खड़े किये कि ये कौन सी अलक्षित, अनाम और अमूर्त पीढ़ी है, जिसका नाम नहीं लिया जा रहा है। हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि धूमिल, विनोद कुमार शुक्ल, अशोक वाजपेयी, कमलेश हैं या दिल्ली के वे लड़के-लड़कियाँ जो चालू कवितायें लिख रहे हैं और ये लोग उन्हें प्रतिष्ठा दिला रहे हैं। तब क्या मेरी इच्छा नहीं होती कि ऐसे लोगों के कटे हुए सिर पेड़ों पर लटके देखूं। ये **आरंभ** में छपा था। इसका प्रमुख वाक्य था- **एक अमूर्त अनाम पीढ़ी जिसका नाम कोई नहीं ले रहा**। तो मैंने नाम दिया। मुझे गर्व है कि ये शब्द मैंने लिखें। जिन कवियों पर वे बहस कर रहे थे, वे दो-चार साल में भुला दिये गये। **आरंभ** पहली और अकेली पत्रिका थी जो अकविता का मुखर विरोध कर रही थी। नामवर जी ने शायद आलोचना के एक अंक में **युवा कविता पर एक बहस** नाम का एक लेख लिखा, जो उनकी पुस्तक 'वाद विवाद संवाद' में शामिल है। उसमें उन्होंने मेरी कही बातों- एक अमूर्त अनाम पीढ़ी जिसका नाम कोई नहीं ले रहा, को बिना मेरा नाम लिये एक युवा कवि के नाम पर लिखा। मेरा नाम केवल नामवर जी के यहां ही गायब नहीं हुआ बल्कि टाइम्स ऑफ इण्डिया की सभी पत्रिकाओं से गायब हो गया। मैं तब धर्मयुग, सारिका में खूब छपता था। धूमिल और विनोद कुमार शुक्ल की तब तक दो-चार कवितायें ही छपीं थी। अब धर्मयुग में मेरी रचनायें छपनीं बंद हो गयीं। मैं तब 27 वर्ष का ही था। सर्वेश्वरदयाल सक्सेना ने दिनमान में टिप्पणी लिखी कि छोटी पत्रिकाओं का दिमाग भी छोटा होता हैं। मैंने **'आरंभ'** में ही इसका जवाब दिया कि पब्लिक स्कूलों, अरबपति प्रतिष्ठानों, प्रीवीपर्स और राजे महाराजों को दिए जाने वालों उनके यही तर्क होते हैं अपने बारे में। कमलेश्वर बहुत नाराज़ हुए वे सारिका में मेरी फोटो छापते थे, जो कविता की पत्रिका नहीं थी। कविता गोष्ठियों की रिपोर्ट से मेरा नाम गायब करने लगे सर्वेश्वर जी। इस तरह से कविता के परिदृश्य से मुझे गायब करने की कोशिश की जाती रही। पर मैं अपने काम में डटा रहा। इन बातों से मुझे कोई नुकसान महसूस नहीं होता।

अकविता के कवियों पर एलन गिंसबर्ग का प्रभाव आप किस रूप में देखते हैं।

इनमें एलन गिंसबर्ग और राजकमल चौधरी की काव्य संवेदना का स्तर अलग था। जैसे कि तांत्रिक या अघोरपंथी देह को माध्यम बनाकर कुछ सिद्धी प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, जो कि वास्तव में उसे मिलती नहीं है। उसी प्रकार यूरोप में एलन गिंसबर्ग और भारत में राजकमल चौधरी ने और उससे पहले तांत्रिकों ने शारीरिकता को केंद्र में रखकर एक अघोर पंथ की स्थापना का प्रयास किया, जिसकी व्यर्थता का बोध उन्हें भी शीघ्र ही हो गया। उनकी भी रचनायें लोगों के जेहन में तब आयीं, जब इन लोगों ने अपने खोल से स्वयं को बाहर कर लिया।

लोक चेतना, वैज्ञानिक चेतना और काव्य संवेदना के बीच क्या रिश्ता है?

कविता को यदि विज्ञान से आगे जाना है तो उसे विज्ञान से ज्यादा नपा तुला होना पड़ेगा। अगर हम विलाप की बात करें तो जानेंगे कि विलाप में विलाप ही महत्वपूर्ण होता है, कथन नहीं। उसकी स्मृतियां होती हैं, उससे विलाप घनीभूत होता है। घनीभूत होने की कला कविता को सीखनी चाहिये और ये कला आती है लोक से जुड़ने और उसे समझने से। दुख की तरह सुख भी घनीभूत होता है। अगर हम किसी शादी का उदाहरण लें तो देखते हैं कि स्त्रियां ढोलक की थाप पर मंगल गीत गाती हैं। बन्ना गाने में वे सारी उन प्रक्रियाओं का ज़िक्र करती हैं, जो दूल्हे के साथ होती हैं जैसे हल्दी लगना, मौर बँधना, सेहरा सजना आदि-आदि। इन सब बातों या क्रियाओं को याद करने से सुख घनीभूत होता है, जबकि इसके उलट दु:ख में किसी व्यक्ति की स्मृतियाँ या बातें दु:ख को घनीभूत करती हैं। दु:ख को सघन करना, घनीभूत करना, ये काम कविता करती है। नागार्जुन को देखिये। उनकी कविता- **धिन धिन धा/धमक धमक मेघ बजे/पंक बनी हरि चंदन, मेघ बजे/हल्का है अभिनंदन, मेघ बजे।** इसमें ये धिन धिन धा क्या है? ये कवि के मन का उल्लास है। वो मन ही मन नाच रहा है। ये लोकगीतों के दोहराव का प्रभाव है, इसे लिरिक कहते हैं। बार-बार आने से एक गीतात्मकता प्रस्तुत होती है। पर आजकल अधिकांश कवि इसे भूले हुए हैं। उन्हें लगता है कि सिर्फ कुछ सूचनात्मक वाक्य लिख देने भर से कविता हो जाएगी, आक्रामक वाक्य लिख देने से कविता हो जाएगी, कुछ विडंबना पैदा करने वाले वाक्य लिखने से कविता हो जाएगी। कभी कहने लगते हैं कि कविता बयान होती है जैसा धूमिल ने कहा। ये लगभग असंभव बात है। वास्तव में इस प्रकार की सोच रखने वाले लोग अपने बचपन से लेकर बड़े होने तक लोक संस्कार में रचे बसे या डूबे नही हैं। लोग आधुनिक हो गए हैं, उनकी कविता भी वैसी ही हो गई है।

क्या आपको कविता की आलोचना लिखने में कभी रूचि नहीं रही?

मैंने कुछ आलोचनाएं लिखी हैं। कथा क्रम में कविता का कॉलम लिखा था। शायद यह पहली पत्रिका थी, जिसमें जो भी कविता छपती थी, उसमें मेरी टिप्पणी होती थी। मैं इसके माध्यम से अपने चयन का आधार स्पष्ट करता था। उस समय मैंने विष्णु खरे, कात्यायनी, राजेश जोशी सहित तमाम महत्वपूर्ण कवियों को छापा। विष्णु खरे की किसानों की आत्महत्या पर लिखी कविता जिसमें वो कहते हैं कि 'एक आध को मार कर क्यों नही मरते' मैंने कथा क्रम में छापा, राजेश जोशी 'मैं झुकता हूँ' छापा। कथा क्रम में छपी हुई कविताओं और टिप्पणियों की एक अलग ही किताब निकल सकती है।

समकालीन कविता में कोई ऐसा युवा कवि है जो कविताओं से आपकी जो अपेक्षा है, उसे पूरा करता हो?

यह एक कठिन प्रश्न है। इस दौर में अच्छी कहानियाँ तो बहुत लिखी जा रही हैं पर अच्छी कविता कम लिखी जा रही है। मुझे लगता है कि कविता लिखना दिन ब दिन कठिन होता जा रहा है। एक अजीब किस्म की उदासीनता फैल रही है। आज हमारी आलोचना ने अच्छे को अच्छा व बुरे को बुरा कहना बंद कर दिया है। क्या साधारण है कोई बताने वाला ही नहीं है।

क्या लोगों में अच्छी कविता और बुरी कविता के बीच फर्क करने का विवेक खत्म हो रहा है?

लोग ठण्डे और उदासीन हो गये हैं। कोई किसी को सलाह भी नहीं दे रहा। लोग सिर्फ अच्छा-अच्छा ही कहते हैं। लोगों की सोच सिर्फ पुरस्कारों और सम्मानों पर ही रह गयी है। दु:खद बात तो ये है कि जहाँ एक तो पुरस्कारों की कोई मान्यता नहीं बची है, वहीं पुरस्कार देते समय लोग मेरिट, योग्यता नहीं बल्कि अपनी दोस्ती दुश्मनी देखने में लग जाते हैं। मेरे व्यक्तिगत अनुभव में कई बार ऐसा हुआ कि पुरस्कार के लिये तय समिति में लोग कहते हैं कि अमुक व्यक्ति को छोड़कर किसी को भी पुरस्कार दे दो, मैं तैयार हूँ। उसकी रचनात्मकता से उन्हें कोई मतलब नहीं होता।

अब नरेश जी कुछ-कुछ थके से दिखाई दे रहे थे, रात के 2.30 बज चुके थे। उन्हें नींद भी आने लगी थी। उन्होंने कहा कि बस! बाकी बातें मैं बाद में बताऊंगा। और फिर उनके कमरे से बाहर निकलता हुआ मैं विचार प्रवाह में गोते लगा रहा था।

थोड़ा सा प्रगतिशील

ममता कालिया

विनीत ने अपनी सहपाठी चेतना दीक्षित के साथ दोस्ती, मुहब्बत और विवाह की सीढ़ियाँ दो साल में कुछ इस तरह चढ़ लीं कि एक दिन चेतना उसके घर हमेशा के लिये आ बसी। अपनी सफलता पर अभिभूत हो गया विनीत। साथ ही सावधान। प्रेम का प्रथम ज्वार जरा धीमा पड़ा तो उसे सबसे पहले यह चिन्ता हुई कि जिस आसानी से उसने चेतना को पटा लिया उतनी ही आसानी से कोई और न उसे पटा ले। साल भर में, चेतना की कमनीयता में कोई कमी नहीं आई, उलटे उसमें इजाफा ही हुआ था। शोखी अब बातों के साथ-साथ उसकी आँखों में भी उतर आई थी।

दरअसल विनीत आजाद भारत के अधिसंख्य शिक्षित नवयुवकों जैसा ही था, थोड़ा-थोड़ा सब कुछ थोड़ा-सा आधुनिक, थोड़ा-सा, पारम्परिक, थोड़ा-सा प्रतिभावान, थोड़ा-सा कुंद, थोड़ा-सा चैतन्य, थोड़ा-सा जड़, थोड़ा-सा प्रगतिशील, थोड़ा-सा पतनशील। सभी की तरह उसके सपनों की स्त्री वही हो सकती थी जो शिक्षित हो पर दब कर रहे, आधुनिक हो, लेकिन आज्ञाकारी, समझदार हो लेकिन अलग सोच-विचार वाली न हो।

विनीत देखता चेतना अपना पूरा दिन किसी न किसी बात या काम में मगन रह कर बिताती। ऐसा लगता जीवन की कोई सुरताल उसके हाथ लग गई है और वह एक लम्बी नृत्यमुद्रा में लीन है। विनीत ने सोचा उसे तौल लेना चाहिये चेतना के दिमाग में क्या चल रहा है।

उसने बात कुछ इस तरह शुरू की, 'चेतू तुम्हारे सिवा और किसी से बात करना मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता।' उसके कान यह सुनने का इंतजार कर रहे थे कि चेतना कहेगी उसे भी विनीत के सिवा किसी और लड़के से बोलना गवारा नहीं।

चेतना ने कहा 'यह तो गंभीर समस्या है। कल को मेरे दोस्त घर आयेंगे तो तुम क्या करोगे?'

'मैं दूसरे कमरे में चला जाया करूँगा' उसने जल भुन कर जवाब दिया।

'देखो, मुझे तो सबसे बोलना अच्छा लगता है, बच्चों से, बड़ों से यहाँ तक कि मैं किताबों और टी.वी. से भी बोल लेती हूँ।'

'चेतना दुनिया इस बीच बहुत खराब हो चली है। जब भी तुम किसी से बात करो, एक फासले से बोला करो। लोग लड़कियों के खुलेपन का गलत मतलब निकालते हैं।

'निकालने दो, यह उनकी समस्या है, मेरी नहीं।' चेतना ने कंधे उचका दिये।

मकान में नीचे के कमरे खाली पड़े थे। दरअसल यह विनीत के बाबा का बनाया हुआ मकान था। इसमें उन्होंने निचली मंजिल पर आँगन की बाहरी तरफ चार कमरे इसलिये बनवाये थे कि उन्हें दुकानों के लिये किराये पर उठा दिया जाए। बाबा तो रहे नहीं, उनके नीति नियम भी उनके साथ ही विदा हुए। विनीत के माता-पिता यहाँ रहते नहीं थे। उनकी नियुक्ति इन दिनों जम्मू में थी। विनीत को यह पसंद नहीं था कि घर का कोई भी हिस्सा किराये पर चढ़ाया जाए। वे चारों कमरे खाली पड़े थे। महीने में एक बार सफाई करवाने के लिये इनका ताला खोला जाता। घर की नौकरानी बड़बड़ाते हुए कमरों में झाड़ू लगाती। चेतना फौरन उसे पाँच का नोट पकड़ा देती।

इस साल दिसम्बर में ठंड इतनी बढ़ी कि आकाश से सूरज और धरती से धूप उड़नछू हो गये। लोगों ने अपने कुल जमा गरम कपड़े पहन लिये लेकिन हर वक्त यही लगता जैसे हर अंग बर्फ में लिपटा हुआ है। ऐसी एक ठंडी शाम कॉफी हाउस से लौटते हुए विनीत और चेतना की नजर अपने रिक्शे वाले पर पड़ी। उसने एक सूती चादर ओढ़ रखी थी, लेकिन रिक्शा चलाने से वह बार-बार उड़ रही थी। चादर के नीचे कमीज भी सूती थी।

वे द्रवित हुए। विनीत ने कहा, 'घर में इतने पुराने गरम कपड़े पड़े हैं, इसे दो-एक कपड़े दे दें।

चेतना बोली, 'नीचे के कमरे में बड़े ट्रंक में होंगे।' घर पहुंचकर चेतना ने रिक्शे वाले से कहा, 'रूको तुम्हें स्वेटर देते हैं।'

वह ऊपर से कमरे और बड़े ट्रंक की चाबियाँ लाई। ट्रंक में वाकई बाबा आदम जमाने के रजाई गददे और पुराने कपड़े भरे थे। उसने अच्छी हालत वाला एक गरम कुरता और ऊनी चादर निकाल कर रिक्शे वाले को दी।

रिक्शे वाला उनसे घर पहुंचाने का किराया नहीं लेना चाहता था। वह बार-बार हाथ जोड़ता, 'नहीं मालिक आपने कई दिनों की मजदूरी दे दी' पर विनीत और चेतना ने जोर देकर उसे पैसे दिये।

रात को नीचे का मुख्य द्वार बन्द करते हुए चेतना ने देखा रिक्शे वाला कहीं गया नहीं, वह वहीं उनके घर के आगे रिक्शे में ऊनी चादर ओढ़कर गुडीमुडी

हुआ पड़ा था।

उसने विनीत को बताया। विनीत चिन्तित हो गया, 'यह बर्फानी रात में अकड़कर मर जाएगा देख लेना।'

चेतना ने सुझाया, 'विनीत क्यों न इसे नीचे के कमरे में रात काटने दें। सब के सब खाली तो पड़े हैं।'

विनीत ने नीचे जाकर रिक्शे वाले को उठाया और कमरा दिखा दिया।

शरण का आश्वासन मिलने पर रिक्शे वाले ने हाथ जोड़ कर विनीत के आगे झुक कर धन्यवाद किया। फिर उसने हाथ ऊपर उठाकर परवरदिगार का भी शुक्र अदा किया। विनीत ने उसका नाम पूछा। उसने बताया 'रहमत'

यह सब सिर्फ एक रात का इन्तजाम था जो सारी सर्दियाँ जारी रहा।

इतनी ठण्ड में उससे यह कहना कि 'जाओ अपना रास्ता नापो' बड़ा कठिन था, खासकर तब जब रहमत सुबह उठ कर चारों कमरों के साथ आँगन, ड्योढी की भी झाड़ू लगा देता, पौधों में पानी डालता और बड़ी खुशी-खुशी विनीत को दफ्तर छोड़ आता। कभी-कभी चेतना भी उसके रिक्शे में बाजार चली जाती।

एक रात बहुत ज्यादा ठण्ड पड़ी। पहाड़ी कस्बों में बर्फ गिरी तो मैदानी कस्बे भी जमने लगे। चेतना को लगा रहमत को ठण्ड लग रही होगी। उसने अपने कमरे की खिड़की से आवाज लगाई, 'रहमत तुम्हें ठण्ड तो नहीं लग रही?'

रहमत ने जवाब दिया, 'नहीं मालकिन।'

विनीत की नींद टूट गई। उसने चिढ़ कर चेतना की तरफ देखा, 'यह बात दिन में भी पूछी जा सकती थी।'

'दिन में तो धूप की रजाई होती है। पाला तो रात में ही पड़ता है।'

'अगर उसे ठण्ड लग भी रही है तो क्या करोगी? क्या अपनी रजाई उसे दे दोगी?

'तुम तो बात का बतंगड़ बना देते हो। वह ऐसा कहेगा ही नहीं।'

विनीत बड़बड़ाया, 'मेरी अच्छी भली नींद चौपट कर दी।'

दफ्तर की तरफ से स्कूटर खरीदने के लिये विनीत ने छह महीने से अर्जी लगा रखी थी। इसमें यह सुविधा थी कि सरकारी कर्मचारियों को निर्धारित मूल्य पर दस प्रतिशत की रियायत मिल जाती और माँगने पर प्राविधि खाते से पैसे निकालने की अनुमति भी।

जिस दिन स्कूटर आवंटन की खबर आई विनीत खुश हुआ। उसने शाम को घर पहुँच कर चेतना को बताया। चेतना के मुँह से तत्काल निकला, 'बेचारे रहमत का क्या होगा?'

'इसका क्या मतलब? हमने क्या उसका ठेका ले रखा है, जाये वह जहाँ से आया था।' विनीत झुंझला गया।

'यकायक वह कहाँ सिर छुपायेगा? छह महीने से यहाँ टिका हुआ है।'

'स्कूटर आने के बाद हम रिक्शे वाले का क्या करेंगे। हमने कोई सरकारी रैनबसेरा तो खोला नहीं है।'

'इंसानियत की कोई चीज़ होती है।' चेतना बोले बिना नहीं रही।

'तुम उसकी इतनी फिक्र क्यों कर रही हो? तुम्हारा वह क्या लगता है? मैंने सोचा था तुम स्कूटर की खबर से खुश होगी।'

'खुश तो मैं हूँ पर एक गरीब का आसरा छिनेगा यह बात खराब है।'

'तो क्या करें। क्या हम एन.जी.ओ. खोल कर बैठ जाये और अपने इलाके के सारे भूखे, नंगों को शरण दें।'

'इसके लिये बड़ा कलेजा चाहिए, हम तो एक अदद बेघर के सिर पर छत नहीं दे पा रहे जबकि वह अपने पैरों पर खड़ा है।'

विनीत बहुत चिढ़ गया। उसने मन ही मन तय किया आने दो आज रहमत को। उसे ऐसी झाड़ पिलाऊँगा कि खुद ही अपना बोरिया बिस्तरा उठा कर भाग जायेगा।

यह चिढ़ केवल रिक्शे वाले तक सीमित न थी। छोटी-छोटी बातों में विनीत को ढेर सा गुस्सा उमड़ता।

कई बार वह अपने दफ्तर के दोस्तों को घर लाता। वे तय करते, विनीत के घर बैठकर बियर-वियर पी कर थोड़ा रिलैक्स हुआ जाए। बाकी साथियों के घर में एकांत का अभाव था। किसी के यहाँ माँ-बाप की मौजूदगी तो किसी के घर में बच्चों की चिल्ल-पौं आराम का माहौल न बनने देती। विनीत का घर इस मामले में निरापद था।

इस तरह के कार्यक्रम के लिये सब खुशी से खर्च में हिस्सा बाँटते। चेतना नमकीन और सलाद का इंतजाम कर देती। लेकिन नमकीन की प्लेटें रखने के साथ-साथ वह खुद भी आ बैठती। विनीत किसी न किसी बहाने उसे उठाता रहता, 'नमक लाओ, नीबू लाओ, बर्फ लाओ।' वह फौरन सामान लाकर पुन: बैठ जाती। किसी तरह अपने गुस्से पर जब्त कर, विनीत रात में चेतना को समझाने की कोशिश करता, 'देखो चेतू तुम मेरे दफ्तर के लोगों के सामने न बैठा करो, ये अच्छे लोग नहीं हैं।'

'मुझे तो उनमें कोई खराबी नहीं दिखती। कितनी इज्जत से बात करते हैं।' चेतना असहमत होती।

'यह सब दिखावा है। दफ्तर में ये लोग दूसरों की बीवियों पर भद्दे-भद्दे कमेन्ट करते हैं।

'अगर ये इतने खराब लोग हैं तो तुम्हें भी इनसे दूर रहना चाहिये।'

'मुझे उपदेश देने की जरूरत नहीं। मेरा कर्तव्य है कि तुम्हारी रक्षा करूँ।' विनीत ने बात समाप्त की।

विनीत ने पाया बाजार में कितनी ऐसी दुकानें थीं जिनके दुकानदार चेतना से हँसकर बात करते। उसके कहने पर दो-चार रूपये की छूट भी दे देते। कुछ विक्रेता तो उसकी पसंद ऐसे समझते कि उसके बोलने से पहले उसकी मर्जी का सामान निकालकर काउंटर पर रख देते।

विनीत ने एक दिन कहा, 'चेतू तुम क्यों बाजार जाकर परेशान होती हो। ऑफिस से वापस आते हुए मैं ही ला दूँगा जो लाना हो। तुम सुबह लिस्ट बना कर मेरी जेब में रख दिया करो।'

अपने प्रेमी पति को तकलीफ नहीं देना चाहती थी चेतना लेकिन उसे अपनी आजादी भी प्रिय थी। अब वह बिना विनीत को बताये दोपहर में बाजार के लिये निकल पड़ती। कई बार बिना कुछ लिये लौट आती पर बाहर निकलने का सुख अपनी जगह था। दुकानों में सजे सामानों का वह पत्र-पत्रिकाओं में दिये गये सामानों से मिलान करती और मन ही मन तय करती कौन सी जगह पिछड़ी है तो कौन सी अधुनातन।

घर में आने वाले अखबार और पत्रिकाओं की संख्या मजे की थी, क्योंकि दोनों पढ़ने के शौकीन थे। विनीत जहाँ हर पत्रिका एक बार पलट कर सरसरी तौर पर पढ़ता, चेतना उसे आद्योपांत पढ़ती। उनमें प्रकाशित लेख, कहानी, कविता पर विचार करती और अपनी सहेलियों से या विनीत से उन पर चर्चा करती। विनीत कहता, 'देखो रचनाओं में तर्क से ज्यादा तन्मयता देखी जाती है।'

चेतना कहती 'तर्क के बिना जीवन में कुछ भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, साहित्य भी नहीं। सहेलियाँ समझातीं, 'तुम क्यों सारा दिन माथापच्ची करती हो। कहानियों में झूठ ही झूठ होता है।

चेतना अपनी सहमति और असहमति व्यक्त करने में जरा देर न लगाती।

वह सम्पादकों को लम्बे-लम्बे पत्र लिखती। जिन रचनाओं में लेखकों के फोन नम्बर या पते दिये होते, वह उनसे भी सम्पर्क करने की कोशिश करती।

ज्यादातर तो किसी का उत्तर नहीं आता, लेकिन हाँ एक बार एक कहानी लेखक ने उसे जवाब दिया था। उसने बड़ी सादगी से चेतना के तर्क मान

लिये और कहा, 'जहाँ तक मेरी बुद्धि की पहुँच थी मैंने कहानी लिखी। आप मुझसे ज्यादा प्रखर हैं।'

पति-पत्नी दोनों ने यह पत्र पढ़ा। दोनों की प्रतिक्रिया अलग थी।

विनीत ने कहा, 'कितना बड़ा लेखक है और कितना विनम्र। उसने तुम्हारे आगे हथियार डाल दिये।'

चेतना बोली, 'गलत। विनीत यह लेखक बड़ा चालाक है। उसने ऐसा लिख कर अपना पीछा छुड़ाया है।'

'चलो छोड़ो, तुम्हें भी क्या पड़ी जो तुम लोगों को चिट्ठी लिखती फिरो या फोन करो। कहानियाँ पढ़ कर भूल जाने के लिये होती हैं।'

चेतना ने पाया इधर रोज़ रात विनीत उसका फोन उलट-पुलट करता है। ध्यान देने पर उसे समझ आया कि वह यह देखता है कि पत्नी के पास किसका फोन आया और उसने किसको किया।

'कितनी ओछी हरकत है। मैं तो इससे दफ्तर के हर मिनट का हिसाब नहीं लेती।' उसे महसूस हुआ।

चेतना का मन कुछ बुझ गया। उसे लगा जैसे उसके ऊपर एक अनदेखा कैमरा लगा हुआ है।

उसने किताबों की बजाय कम्प्यूटर में मन लगाना शुरू किया। यह क्या! चेतना को जैसे घर बैठे नयी निराली दुनिया मिल गई। हर विषय पर इतनी जानकारी और इतनी विविधता। सत्य और तथ्य जानने की उसकी उत्कंठा अब कहीं संतुष्ट होने लगी। विनीत हैरान रह गया। वह जैसे ही कोई बात कहता, चेतना उसके दस पहलू सामने रख देती। विनीत ने उसे नया नाम दे दिया, मिनीपीडिया।

चेतना की प्रखरता से विनीत, प्रभावित भी था और प्रताड़ित भी। उसे लगता जिंदगी की दौड़ में चेतना उसे बहुत पीछे छोड़ सकती है।

फेसबुक पर चेतना के हजारों दोस्त बन गये। वह अब घर ही घर में एकदम मगन रहती। वह रात में जाग कर इंटरनेट पर कुछ न कुछ पढ़ती रहती। आजकल विनीत कुढ़ रहा है और मना रहा है कि कहीं चेतना नौकरी करने का इरादा न कर ले। लगता है वहाँ भी वह उसे पछाड़ गिरायेगी।

मेरा वी.आई.पी. मेहमान

हृदयेश

बहुत-बहुत पहले इलाहाबाद के अल्कालीन प्रवास में नरेश मेहता से भेंट करने पर उन्होंने अश्क जी से संबंधित एक प्रसंग सुनाया था। अश्क जी ने नरेश मेहता को बताया था कि वह अपनी आगामी कृति में एक ऐसे चरित्र को उतारना चाहते हैं जो बाहर से भोला, मासूम दिखे, लेकिन अंदर से हो चालाक, फरेबी, विकृत मानसिकता का, नायक के मुखौटे में धूर्त किस्म का खलनायक। नरेश मेहता ने सुझाव दिया, आप किसी देवता को फोकस कर प्रारम्भ करिए। आपकी कलम से बनते-ढलते चरित्र स्वयं वैसी दोरूपिया प्रकृति ग्रहण कर लेगा।

अश्क जी तुनक गए थे, आप मजाक पर आ गए हैं।

'मैंने आपकी समस्या का समाधान पूरी ईमानदारी से किया है।' नरेश मेहता ने गंभीरता बिना ढीली किए हुए कहा।

बहुत-बहुत पहले मेरा लखनऊ जाना हुआ था। छुट्टी के दिन मैं अपने एक हम उम्र रिश्तेदार को वहां की ऐतिहासिक इमारतें देखने के वास्ते साथ खींच ले गया था। एक इमारत के पास पहुंचने पर ज्ञात हुआ कि इसके अन्दर भूलभुलैया है। मैंने उससे रूबरू होना तय किया। इमारतों से जुड़े इतिहास से सही-सही परिचित होने के लिए मैंने एक गाइड की सेवायें ले रखी थीं। मैंने जब गाइड से कहा कि लखनऊ के ज्यादातर नवाब ऐयाश थे, तामीर को भूलभूलैया की शक्ल देने के पीछे नवाब की मंशा उसके पिंजड़े में परीजादा औरतें फंसाकर उनसे अपना हरम सजाना था, तब बुलगानिन कट दाढ़ीवाला अधेड़ उम्री गाइड बारीक-सा मुस्करा दिया था। इसके बाद जब मैंने उसे बताया कि मैं अफसाना निगार हूँ, मेरे अफसाने पत्र-पत्रिकाओं में तो शाया होते है, रेडियो से भी वे ब्राडकास्ट किए जाते हैं और लेखक एक ऐसी तीसरी आँख का मालिक होता है कि वह उससे अंधेरे में गुम चीजों को भी देख लेता है, इसलिए मैं अकेला ही भूलभुलैया में जाऊंगा, तब गाइड दुबारा मुस्करा दिया था, हालांकि इस बार मुस्कराहट बारीक से कुछ बेशी थी, ओंठ की कगार से बाहर रेंग आने वाली।

जीना दिखा देने पर मैं भूलभुलैया में दाखिल हो गया था। भूलभुलैया में पूरा चक्कर लगाने के बाद मैं ऐसा भरमाया कि बाहर निकलने का रास्ता मानकर मैं एक और मंजिल पर जा पहुंचता। वापस आकर फिर दूसरा निकास पकड़ता, लेकिन फिर उस गलत मंजिल में पहुंच जाता। मुझे सही निकास की तलाश में भटकते आधा घंटा से ऊपर हो गया था। उस समय तक मोबाइल फोन वजूद में

नहीं आया था। मैं मदद के लिए गुहार लगाने वाला ही था कि गाइड ऊपर आकर मुझे निकाल ले गया था। इमारत के बाहर रिश्तेदार साथी, जो किसी काम से कहीं चला गया था, मौजूद था। मुझे देर लगती देखकर गाइड को उसी ने ऊपर भेजा था।

वापसी में रिश्तेदार ने एक दुकान के आगे चाय पीने के लिए रोका। मैंने टोका कि यह वह दुकान नहीं है जिसकी तारीफ में उसने बताया था कि वहां की चाय और पकोड़े स्पेशल क्वालिटी के होते हैं।

'भाई साहब, लगता है भूलभुलैया का जिन्न अब भी आप पर सवार है। आते हुए दुकानदार रंगीन स्वेटर पहने हुए था। उसने अब उतार दिया है।

शमशेर सिंह पर लिखते हुए बहुत-बहुत पहले के ये दो प्रसंग मुझे अनायास याद आ गए हैं। साहित्य से जुड़ा लेखक साहित्य या कला के क्षेत्र में सान्निध्य में आए व्यक्ति पर ही बहुधा लिखता है। महादेवी वर्मा ने अपनी परिचय-परिधि में आए निहायत सामान्य जनों जैसे घीसू, नीलू, भक्तिन, चीनी फेरीवाला पर संस्मरण लिखे हैं। संस्मरण दरअसल लेखक की स्मृति से संबंध रखता है और स्मृति में वही व्यक्ति उतराता-मंडराता रहता है जिसने उसके मन या बोध को गहरे में उद्वेलित किया हो।

शमशेर सिंह एक निहायत सामान्य व्यक्ति होते हुए भी थे निहायत असामान्य। इधर के लेखन में जब तक ऐसे भी चरित्र पढ़ने को मिल जाते हैं जो अविश्वसनीय से लगते हैं, अस्वीकार्य योग्य। समाज में होते होंगे तभी वे लेखन में स्थान पा रहे हैं। महाझूठ हमेशा महाझूठ नहीं होता है। कभी-कभी महासच भी होता है। लेखक जिस पर लिखता है, अधिकतर वह उसके लिए सम्माननीय या आत्मीय या परिचितों में अपने क्षेत्र में लगन, साधना, समर्पण से ऊंचाई ग्रहण कर चुका या अपनी विशिष्ट गतिविधियों से गरिमाधारक होता है। उस पर लिखना लेखक का अपने कर्तव्य–दायित्व से संतृप्त मुक्त होना होता है। होता यह भी है कि कोई-कोई व्यक्ति अपने अल्प सहचर्य से लेखक की स्मृति में ऐसा फैल-पसर जाता है कि वह लेखक की पूरी सोच-समझ अपने पर ही कीलित कर लेता है और तब लेखक के लिए लाजिम हो जाता है कि वह उस पर लिखकर उससे मुक्त हो। शमशेर सिंह पर लिखने के पीछे यह दूसरी मजबूरी है।

शमशेर सिंह के सहचर्य का बानक यों बना था। वैसे इस बानक को कोई संयोग कहेगा, कोई मजा लेते हुए देव इच्छा भी।

जनवरी 2011 में मेरा लघु-उपन्यास 'चार दरवेश' भारतीय ज्ञानपीठ की बहुपठित पत्रिका 'नया ज्ञानोदय' में प्रकाशित हुआ था। इसमें पूंजीवाद और

बाजारवाद की देन आज के गुण्डा समय में चार वृद्धों की एक ही जैसी त्रासद नियति को दर्शाया गया था। पन्द्रह-बीस दिन बाद मेरे पास फोन आना शुरू हो गए थे। पत्रिका ने पते में मेरा फोन नम्बर भी शामिल किया था। पाठक कहते कि अभी उन्होंने आधा उपन्यास पढ़ा है और हिल गए हैं, या उनका मन बहुत भारी हो गया है। मैं उनसे कहता कि पूरा उपन्यास पढ़कर ही सही राय बनती है। निर्दोष आंकलन की वही एक मान्य कसौटी है। उनमें से कई के जल्द ही दुबारा फोन आ जाते। वे अपने पहले के कहे हुए को संतुष्ट करते-पूरा उपन्यास पढ़कर और भी ज्यादा हिल गया हूँ, या अंदर गहरी बेचैनी छिटक गयी हैं, या अपने आँसू रोक नहीं पाया हूँ। मैं उनसे उनकी आयु पूछता। ढलकी हुई उम्र से दूर खड़े पाठक बताते कि उन्होंने अपने आसपास के घरों के बूढ़ों की मेरे द्वारा वर्णित जैसी ही दुर्गति देखी है। मेरे लिखे हुए में कोई अतिरंजना नहीं है। एक महिला ने बताया कि यद्यपि वह अब नोएडा में रहती है, किन्तु उसका मूल निवास मेरे ही जनपद की एक तहसील में एक प्रतिष्ठित घराने में है। वह वृद्धावस्था वाली आयु की ही है, लेकिन बेटा उसका बहुत ध्यान रखता है। बेटे ने ही उसकी इच्छा जानकर फोन मिला दिया है। मैंने कहा कि यह उसने कैसे मान लिया है कि मैं अपने बच्चों की निगाह में एक ठिकाने लगाया जाने वाला अनुपयोगी अदद हूँ। लेखक समाज के एक्का-दुक्का की बीती न लिखकर वृहद जनों की बीती लिखता है और तभी वह एक बड़ा सत्य बनता है। मुम्बई के निकट की एक महिला ने मुझे बुलाकर अपने पास रखने की पेशकश की। मैंने कहा कि अस्सी पार की उम्र के बावजूद मैं आत्मनिर्भर हूँ और यह आत्मनिर्भरता अदैन्यीय है। दो मिनट बाद दुबारा फोन आया कि मेरा उपन्यास पढ़कर वह बराबर सोच रही है कि बूढ़े पिता और ससुर के प्रति उसके व्यवहार में कहीं कोई खोट तो नहीं है और अब आगे से वह बहुत सजग रहेगी। एक पाठक ने घर पर मेरी मौजूदगी की स्थिति के बारे में पूछकर कहा कि वह किसी दिन मुझसे मिलने आएगा और तब अपने नगर के संग्रहालय के वास्ते उपन्यास की हस्तलिखित पाण्डुलिपि ले जाएगा। जेल के एक उच्च अधिकारी का मुख्यालय से फोन आया कि छुट्टी के दिन पन्द्रह-बीस पृष्ठ पढ़कर उनका विचार कुछ अन्य चर्चाओं से जुड़ना था, किन्तु उपन्यास ने ऐसा बांधे रखा कि वह लंच के लिए भी नहीं उठे और चाय को ही विकल्प बनाए रखा। 'चार दरवेश' के उन चार बूढ़ों का मिलन स्थान सूखे नाले की एक पुलिया थी। प्रख्यात कथाकार विद्यासागर नौटियाल बोले थे, हृदयेश जी, लगता है इन दिनों शाम को आपका पुलिया पर बैठना हो रहा है। इतने सुगठित और विषय के प्रति पूर्ण न्याय करने वाले उपन्यास के लिए मेरी बहुत-बहुत बधाई।

'नया ज्ञानोदय' के संपादक रवीन्द्र कालिया ने मेरे लेखन पर विश्वास करते हुए उपन्यास की पाण्डुलिपि पहुंचने से पूर्व ही उसके प्रकाशन का विज्ञापन पत्रिका के पूरे पृष्ठ पर निकलवा दिया था। कालिया जी के विश्वास पर मैं खरा उतरा हूँ, इसका सुख-संतोष मुझे सिंचित कर रहा था।

फोन का आना बरकरार था। मैं फोन से जुड़े रहने के लिए मोबाइल अपने पास बनाए रखता था, यहाँ तक कि बाथरूम जाते हुए भी। उतर रही रात्रि की एक ऐसी ही बेला पर मेरा मोबाइल सक्रिय हो उठा। दूसरी ओर वाले ने अपना परिचय दिया कि उनका नाम शमशेर सिंह विज्ञ है, कभी वह देहरादून के निवासी थे, अब आस्ट्रेलिया में बस गए हैं, आस्ट्रेलिया में मेरी आत्मकथा 'जोखिम' पुस्तकालय में थी, उन्होंने उसको पढ़ा है, वह उनको बहुत अच्छी लगी है। मेरे यह बताने पर कि 'नया ज्ञानोदय' के जनवरी अंक में मेरा उपन्यास आया है और वह भी उनको जरूर पसंद आएगा, शमशेर सिंह ने बताया कि आस्ट्रेलिया से इंडिया चलते हुए वह उस अंक को साथ लाए हैं। पत्रिका के वह ग्राहक हैं। आगे उन्होंने जोड़ा कि वह शाहजहांपुर आकर मुझसे मिलना चाहेंगे। उनका पेशा पत्रकारिता है। जिन दस-बारह लेखकों से वह प्रभावित हुए हैं, उन पर उनकी पुस्तक लिखने की योजना है।

'आपका मुझसे मिलने आना निश्चय ही मुझे ऊर्जा देगा।'

'मैं जल्द ही अपना कार्यक्रम बनाकर सूचित करूंगा।'

अगले से अगले रोज मेरे संपर्क साधने पर उन्होंने मुझसे नई दिल्ली से दिन में चलकर सीधे शाहजहांपुर पहुंचने वाली ट्रेनों की निस्बत पूछा। यह भी पूछा कि वहां ठहरने के लिए कौन सा ए-वन होटल होगा। मैंने कहा कि मेरा डॉक्टर बेटा यह सारी जानकारी उनको मुहैया करा देगा। मेरे बेटे का फोन नम्बर लेकर उन्होंने बताया कि दिल्ली के कई अखबारों के पत्रकार उनसे बात करने के लिए आ रहे हैं। वह जल्द ही शाहजहांपुर अपने आने का कार्यक्रम बना लेंगे।

झूठ नहीं बोलूंगा, मैंने फिर कहा था कि उनका आना मुझे ऊर्जा देगा। यश कामना इनसान की एक बड़ी कमजोरी मानी गयी है और यह प्रबुद्ध से प्रबुद्ध व्यक्ति को भी अपने आगे निरा बेचारा बना देती है।

बेटे को उन्होंने शाहजहांपुर के कार्यक्रम से अवगत करा दिया। मैंने अगल- बगल के नगरों से प्रकाशित होने वाले दैनिक-पत्रों में विज्ञप्ति दे दी कि आस्ट्रेलिया के पत्रकार शमशेर सिंह विज्ञ वरिष्ठ कथाकार हृदयेश से मिलने आ रहे हैं और वह स्थानीय पत्रकारों से भी भेंट करना चाहेंगे।

जो ट्रेन दिल्ली से चलकर यहां रात्रि आठ बजे के आसपास आती थी,

जाट आंदोलन गरमा जाने के कारण वह प्रात: चार बजे आयी थी। पिता जिला न्यायालय की टाइप बाबू की निरी साधारणता का बोसीदा लिबास उतारकर साहित्यकार की प्रतिष्ठामयी असाधारणता का बाना ग्रहण करते जा रहे हैं, बेटा भी कहीं इससे अभिभूत था। पिता का यश पुत्र को भी रिस, छलक कर प्राप्त होता है। स्टेशन दूर होते हुए भी बेटा ट्रेन के इस बेहूदा समय पर उपस्थित था। उसने पिता के इस वी.आई.पी. मेहमान को एक सुविधा संपन्न नव स्थापित होटल में ठहरा दिया था।

बेटा ग्यारह बजे शमशेर सिंह को मेरे वाले घर ले आया था, जहां दोपहर का भोजन किया जाना था। दरवाजे में घुसते ही शमशेर सिंह ने मेरा साष्टांग चरण स्पर्श किया था। मैंने फिल्मी दुनिया से अभिनय के अलावा उसके अन्य अनेकों रूपों से ताल्लुक रखने वाले गुलजार को टी.वी. के परदे या प्रिंट मीडिया के पृष्ठों पर देखा है। शमशेर सिंह अपने नैन-नक्श, देहवर्ण व कद काठी में गुलजार जैसे ही थे। गुलजार वाली सत्तर पार की उम्र में भी वह दाखिल हो चुके थे। आरक्षण वाले आंदोलन से गाड़ी का शेड्यूल उस दिन गड़बड़ा गया, मेरे यह कहने पर उन्होंने बताया कि वह अपने होटल से दिल्ली रेलवे स्टेशन समय से आ गए थे। ट्रेन का लेट होना पहले एक घंटे का बताया गया, फिर दो घंटे का, फिर यह लेट होना शैतान की आंत की तरह खिंचता गया। गाड़ी नौ बजे प्लेटफार्म पर लगी थी। उनका जिस्म व दिमाग दोनों शिकस्ता हो चुके थे। अपनी बर्थ पर व्यवस्थित हो जाने के बाद उन्होंने अटैची से बोतल और गिलास निकाल लिया था। इस पर सेकेण्ड क्लास ए.सी. के उनके कूपेवाला बगल की बर्थ का यात्री कहने लगा कि यहां सुराकर्म नहीं होना चाहिए, उसे आपत्ति है। उन्होंने कहा कि हर रोज उस वक्त वह दो-एक पैग लेते हैं, यह उनके रूटीन का हिस्सा है और आज जब गाड़ी के बिगड़े शेड्यूल ने उनकी जिस्मानी, दिमागी हुलिया बिगाड़ दी है, इसका लेना और भी लाजिमी हो गया है। यात्री कुछ ज्यादा गंगाजल, तुलसीदल किस्मी था। वह कोच के अटेण्डेण्ट और फिर टिकट कलेक्टर को बुला लाया। उन्होंने पर्स से अपना पास-पोर्ट निकालकर दिखा दिया कि वह फारेन सिटीजन हैं। टिकट कलेक्टर ने यात्री को उसी कोच में दो-तीन खाली बर्थ के नम्बर बताकर कहा कि अगर वह इनकी शराबकशी से परेशानी महसूस कर रहा है तो वहाँ किसी पर चला जाए। यात्री जिद्दी टाइप का भी था, गंगाजल, तुलसीदल प्रेमी जैसा कि होते हैं। वह ट्रेन में चल रहे सिक्यूरिटी के नायक को बुला लाया। नायक के चेहरे की मुद्रा उनकी बाटल का ब्राण्ड देखकर लार टपकाऊ हो गयी। उसने यात्री से कहा कि ट्रेन में पीना पेनल कोड का कोई जुर्म तो नहीं जो वह

दखलन्दाजी करें। चाहिए तो यह कि वह इन विदेशी मेहमान का 'अतिथि देवो भव' कहकर सम्मान करें। नायक के लौट जाने के बाद उन्होंने यात्री से हाथ जोड़कर अर्ज किया कि महाराज अब आप शांत रहकर अपने चैन के साथ उनके चैन की भी चिंता करें। पांच-सात मिनट बाद यात्री बड़बड़ करता हुआ कहीं दूसरी जगह मर खप गया।

शमशेर सिंह ने यह प्रसंग उस किस्से की तरह सुनाया जिसमें सुनाने वाला स्वयं को महानायक की तरह पेश करता है और दूसरे को महाहरामी।

मेरे छोटे भाई की बेटी, दामाद आस्ट्रेलिया में अरसे से रह रहे हैं। उसका स्वयं भी वहाँ जाना हुआ था। भाई शमशेर सिंह को वहाँ के अपने अनुभवों के बारे में बताने लगा और शमशेर सिंह उसमें कुछ जोड़ते-घटाते रहे।

भाई के जाने के बाद जब शमशेर सिंह ने मेरी दिवंगत पत्नी के बारे में पूछा तो मैं चौंका। इस चौंक को जज्ब करते हुए कहा कि मैंने अपनी आत्मकथा 'जोखिम' में पत्नी के बारे में जानकारियां दी हैं। शमशेर सिंह इस बिन्दु पर विराम लगाने के लिए मुस्करा दिए थे। आगे चली ढीली बातचीत के दौरान मैंने जानना चाहा कि वे कौन-कौन से लेखक हैं जिनको वह अपनी पुस्तक में शामिल करने जा रहे हैं, उनका दबे स्वर में उत्तर था, 'अभी विचार मंथन चल रहा है।' अपनी स्थिति स्पष्ट हो जाने के लिए मैंने और कुरेदना अपना हलकापन झलकाना माना था।

भोजन के बाद बेटा उनको होटल छोड़ने अपने साथ ले गया।

बेटा रात्रि के दस बजे अपने मरीजों की व्यस्तता से निवृत्त होकर पिता के इस विशिष्ट मेहमान का हालचाल लेने होटल गया था। शमशेर सिंह अपनी मेज पर वैसा तामझाम सजाए नशा कर रहे थे। बेटे को साथ देने का आमंत्रण दिया। बेटे ने जोर दिए जाने पर भी अपने को बचाए रखा। बेटा पत्नी को भी साथ लेता गया था। नशे की रौ में शमशेर सिंह बोले थे, 'डॉक्टर साहब कांग्रेटस, यू हैव गाट ए ब्यूटीफुल वाइफ।'

सुबह बेटे ने फोन पर बताया कि शमशेर सिंह की इच्छा उसके मकान में शेष अवधि गुजारने की है। उनकी नजर में होटल का कमरा दिल्ली के वैसे किसी कमरे से भी अधिक मंहगा है, दूसरे वहाँ एकदम अकेलापन भी है। बेटा मेरे घर से वापस ले जाते हुए उनको कुछ देर के लिए अपने घर भी, जो रास्ते में पड़ता था, ले गया था।

बेटे के घर पर ऊपरी तल पर गेस्टरूमनुमा पूर्ण सुविधाजनक व्यवस्था थी। शमशेर सिंह को उसमें ठहरा दिया गया। मैं भी वहाँ पहुंच गया। मैंने

साहित्य में रूचि रखने वाले अपने दो-तीन करीबी मित्रों को भी इस वी.आई.पी. मेहमान के आने की बात बता रखी थी। दिनेश रस्तोगी ने होटल का नाम जानना चाहा। मैंने बताया कि अब वह बेटे के घर पर शिफ्ट हो गए हैं। दिनेश जल्द ही वहाँ पहुंच गया।

शमशेर सिंह में नाश्ते की अधीरता छिटक आयी थी। होटल छोड़ने से पहले उन्होंने वहाँ कुछ खाया नहीं था। बाहर सड़क पर चहलकदमी करते हुए उन्होंने किसी खोखे पर से लेकर बस चाय पी थी। बेटा नर्सिंग होम में भरती अपने मरीजों को देखने जा चुका था। किचन में काम संभालने वाली का इंतजार था। शमशेर सिंह की बेकली मांपकर दिनेश निकट की दुकान से खासे गुदाज चार समोसे ले आया। मैंने शिरकत नहीं की। दिनेश ने भी एक समोसे तक अपनी शिरकत सीमित रखी। कुछ ही देर बाद नीचे किचन से भी नाश्ता तैयार होकर आ गया। उसके भी एक बड़े हिस्से पर, जिसे लायन शेयर कहा जाता है, शमशेर सिंह का अधिकार रहा।

दिनेश की अपने बेटे को जॉब के लिए बाहर भेजने की इच्छा है, ऐसा जानकर उन्होंने कहा कि उसके बेटे के पास ऊंची डिग्री है। आस्ट्रेलिया में उसे अच्छा जॉब मिलने में दिक्कत नहीं आएगी। उनकी भी मदद रहेगी। आस्ट्रेलिया एम्बेसी अपने नागरिकों की सिफारिश की कद्र करती है। वह आस्ट्रेलिया पहुंचकर जरूरी जानकारी देंगे। उन्होंने दिनेश का फोन नम्बर डायरी में टीप लिया।

शाम को दुबारा आना बताने पर उन्होंने दिनेश को तीन सोडा बाटल लेते आने के लिए बोल दिया। सोडा की खास ब्राण्ड बता दी। वही होनी चाहिए।

दोपहर में मैंने भोजन के लिए पूछा। उत्तर था-भोजन भूख लगने पर ही किया जाता है। मैंने नीचे उतरकर अकेले भोजन कर लिया। घंटे भर बाद प्लेट में दाल, चावल, रोटी लगाकर बहू ऊपर उनके कमरे में रख आयी।

संध्या को सोडे की बाटल के साथ दिनेश हाजिर हो गया था।

मैंने तय किया था कि मैं रात अपने वाले घर में गुजारूंगा और सुबह नौ के आसपास नित्यकर्मों से निवृत्त होकर लौट आऊंगा। बहू ने रात में मेरा रूकना जरूरी बताया था। घर में सुबह तड़के हो आऊं।

रसरंजन का कार्यक्रम शुरू हो गया था। शमशेर सिंह जानी बाकर, रायल स्टेग, शेम्पेन जैसे कई नामी ब्राण्ड की कई बोतलें अपनी अटैची में रखकर साथ लाए थे। बावजूद इसके वह तीसरे पहर उधर स्थित बाजार का चक्कर लगाकर वाइन शॉप देख आए थे और यह भी पता लगा आए थे कि शॉप कितनी रात गए तक खुली रहती है।

दिनेश शराब का लती नहीं है। साथ-सुंगत निभाने के लिए गाहे-ब-गाहे थोड़ी-सी ले लेता है। उसने अपने गिलास में आधा पैग ही ढलवाया था। उतने में ही सुरूर में आ गया था। शमशेर सिंह नशे की गिरफ्त में थे। मैं पीता नहीं हूँ। दोनों को मुझ पर तरस आ रहा था, सकल पदारथ हैं जग माहीं, करमहीन नर पावत नाहीं, का तरस भाव फिर मेरी खिल्ली उड़ाने में ढलने लगा। दिनेश हास्य-व्यंग्य का कवि है। उसने इसके लिए शेरो शायरी का सहारा ले लिया। अश्लीलता को भी इसमें शामिल कर लिया। अश्लीलता के चटखारे स्वाद पर शमशेर सिंह वाह-वाह के साथ खिल-खिल जाते थे।

दिनेश शराब की खुसूसीयत, शान और उसकी कद्रदानी पर अश्शार सुनाने लगा:

पहले हमको कसमें देकर बूंद-बूंद आदत डाली,
मय तो बेहद चीज बुरी है अब आए समझाने लोग।

पांच-सात वैसे और फुटकर शैर सुनाने के बाद बंदिश आगे की:

इतने बदनाम हुए हम तो इस जमाने में,
लगेगी आपको सदियां हमें भुलाने में।
न तो पीने का सलीका न बहकने का शऊर,
ऐसे भी लोग चले आते हैं, मयखाने में।

शमशेर सिंह ने उठकर उसे गले लगा लिया। गले लगाकर खुद भी दोहराया- न तो पीने का सलीका न बहकने का शऊर, ऐसे भी लोग चले आते हैं मयखाने में। दोहराते हुए उनका हाथ मेरी ओर उठ गया था। दिनेश ने अपने कहे हुए को और भी तरन्नुम के साथ कहा। दाद मिल रही थी। दाद का भी नशा होता है। उसका भी हाथ मेरी ओर लहरा जाता था। शमशेर सिंह के पास वीडियोग्राफी वाला कैमरा था। कैमरा शिकार को कैद करने लगा।

मुझे वहाँ बैठना था। झेलना था। स्थिति का यह तकाजा था। तकाजे की अनसुनी करने पर मैं बेसलीका और बेशऊर और ज्यादा ठहराया जा सकता था।

दिनेश की निगाह घड़ी पर गयी थी। नौ से ऊपर बज रहा था। उसका मकान शहर के छोर पर था, वीराने में। उसने उठना चाहा। शमशेर सिंह ने उठने नहीं दिया। कहा कि रास्ते में उसे कोई नहीं घेरेगा। घेरने वाला उसकी शायरी सुनकर उसका मुरीद हो जाएगा।

दिनेश रास्ते, चलताऊ शेर सुनाने लगा। कैमरा मुझ पर टिक-टिक जाता। शमशेर सिंह को बाथरूम जाना पड़ा था। दिनेश फूट लिया था।

बाथरूम से बाहर आकर शमशेर सिंह ने एक पैग और बना लिया। भुने

पिस्ता के दाने टूंग लिए। घूंट उतारकर बोले कि उनकी वाइफ को शराब में बू आती है। बू उसके दिमाग में है। उनकी छह साल की नातिन कहती है, 'नाना जी इट स्मैल्स वेरी गुड।' वह वाइफ से कहते हैं कि वह भी वाइन लिया करे। मस्त रहेगी तो हेल्थ भी दुरूस्त रहेगी।

बेटा क्लीनिक से आ गया था। वह शमशेर सिंह के वास्ते खाने की प्लेट लिए हुए कमरे में दाखिल हो गया था। मैं उठ गया। पांच मिनट बाद बेटा भी नीचे आ गया। वह भी टीटाटलर है।

मैं सुबह तड़के अपने घर जाकर नौ बजे तक लौट आया था। ऊपरी तल पर कमरे के सामने खासी बड़ी छत है। एक ओर पड़े सायबान के नीचे कुर्सी निकालकर हम बैठ गए। मार्च के शुरूआती दिन थे। हवा में से सर्दी के डोरे पूरी तरह सिमटे नहीं थे। छांहदार धूप सुहावनी लगती थी। शमशेर सिंह अपने बारे में बताने लगे। उनकी पत्नी कर्नाटक की है। प्रेम विवाह हुआ था। पटियाला में राष्ट्रीय स्तर के खेल प्रशिक्षण केन्द्र में उनकी पत्नी वॉलीवाल की प्रशिक्षक थी, जबकि वह दौड़ाकी के। उन दोनों में नजदीकियां बढ़ती गयीं थीं। विवाह के लिए भाई लोग राजी नहीं थे। उनके पिता जो फौज में अफसर थे, बर्मा के मोर्चे पर मारे गए थे। माँ को दाई का पेशा पकड़ना पड़ा था। इस पेशे का जिक्र करते हुए उन्होंने बताया कि साहित्य की बड़ी तोप कमलेश्वर की माँ भी जचभीगीरी करती थी। इस सच्चाई को सब नहीं दो-चार बहुत करीबी दोस्त ही जानते हैं। माँ को अपने बच्चों की परवरिश की खातिर छोटे-से-छोटा काम करने में गुरेज नहीं होता है। माँ उनकी उसी शादी के हठ पर नरम पड़ गयी। वह होने वाली बहू से चुपचाप मिल आयी थी। शादी में घर का कोई सदस्य शामिल नहीं हुआ था। शामिल हुई थी सिर्फ माँ। पत्नी एक स्कूल में अध्यापन करने लगी थी। वह फौज में बतौर प्रशिक्षक नियुक्त हो गए थे। पत्नी माँ बनने वाली थी। उन्होंने नौकरी छुड़ा दी थी। वह एक बेटी के पिता बन गए थे। जिस बटालियन से वह सम्बद्ध थे, उसे एक आपातकालीन ऑपरेशन के सिलसिले में कूच करना पड़ा था। तब वह भी नौकरी से पैदल हो गए थे। कड़की की हालत में पत्नी और उनके बीच तनाव रहने लगा। पत्नी बच्ची को लेकर अपने मायके कर्नाटक चली गयी। बेरोजगारी में उनकी तंगहाली दिन-ब-दिन बढ़ती गयी। चाय के लिए रूपये, दो रूपये के वास्ते भी तरसना पड़ता था। वह देहरादून के जिस होटल में शाम को बैठकबाजी करते थे, उसमें एक कपूर साहब भी शामिल होते थे। कपूर साहब आस्ट्रेलिया में रह-बस आए थे। वह कपूर साहब से जब भी अपने आस्ट्रेलिया जाने की संभावना के बारे में पूछते थे, कपूर साहब कभी कहते थे, वहाँ जाना

खाला के घर जाना नहीं है, कभी कहते थे, वहाँ हर किसी ऐसे-वैसे के लिए दरवाजा खुला नहीं है, कभी कहते थे, सिर्फ चौबीस कैरेट क्वालिटी वाले शख्स के लिए ही वहां गुजाइंश है। उन्होंने चुपचाप पासपोर्ट हासिल करने के बाद फार्म भरकर आवेदन कर दिया। एम्बेसी से इन्टरव्यू का बुलावा आने पर वह माल लेकर दिल्ली जा रही ट्रक पर बैठकर गए थे। उन्हें वीजा मिल गया था। विद्यार्थी जीवन में वह एक साप्ताहिक-पत्र से जुड़े थे। उस साप्ताहिक के लिए उन्होंने झारखण्ड के आदिवासी जनजीवन के बारे में लिखा था। उस लिखे हुए से वह जर्नलिस्ट मान लिए गए थे। वही वीजा पाने का आधार बन गया था। जाने के खर्चे का बंदोबस्त उस होटल वाले ने, जहाँ पर अड्डा जमाते थे, कर दिया था। वह बहुत नेक बंदा था। आस्ट्रेलिया में उनको स्वयं को ढंग से स्थापित करने में समय लगा था। वह छह वर्ष बाद ही पत्नी और बेटी को लेने भारत आ सके थे। इस बात का उनको गहरा मलाल रहा कि कपूर साहब उनके आने से पहले ही दुनिया से कूच फरमा गए थे। इस मलाल को कहते हुए वह विलम्बित राग किस्मी हंसी हंसे थे। वह हंसी पिसी हुई कांचधारी थी, चुमीली-चमकीली।

नाश्ते के वास्ते हम कमरे में आ गए थे। नाश्ते के दौरान उन्होंने दो-एक टेबलेट्स लिए थे। उनके पास ऐलोपैथिक, आयुर्वेदिक तथा होम्योपैथिक-इन तीनों पद्धति की दवायें थीं, जिनका वह तयशुदा वक्त पर सेवन करते थे, यहाँ तक कि ईसबगोल भूसी का भी।

बातचीत के इस दूसरे दौर में उन्होंने बताया कि आस्ट्रेलिया सरकार उन जैसे वरिष्ठ नागरिकों को बहुत सुविधायें देती है। मेडिकल चेकअप फ्री है। दो वर्ष बाद नया चश्मा मिलता है और चारेक वर्ष बाद डेन्चर। घूमने के लिए स्पेशल पैकेज दिया जाता है। भारत आने के वास्ते इस बार उनको तीन हजार डालर मिले हैं। वह दो-तीन साल के अंतराल से भारत आते हैं। पिछली बार कामनवेल्थ गेम्स देखने आए थे। इस बार दिल्ली के एक हफ्ते के ठहराव में वह राजेन्द्र यादव से मिलने 'हंस' कार्यालय गए थे। राजेन्द्र यादव जिंदगी के बारे में उनका वर्जनामुक्त दृष्टिकोण जानकर बोले थे, 'शमशेर सिंह, आप इतने दिनों कहां रहे। आप बहुत सही आदमी हैं।' वह उषा महाजन से भी उनके घर जाकर मिले थे, जहां उन्होंने दही परांठे का नाश्ता किया था। उषा महाजन के पतिदेव लचर-पचर मार्का नजर आए। उषा के खुशवंत सिंह से करीबी रिश्ते हैं। खुशवंत सिंह की कई किताबों का उन्होंने हिंदी में अनुवाद किया है। उषा की कहानियों की एक किताब हिंद पाकेट बुक्स की उस लोकप्रिय सीरीज में आ चुकी है जिसमें हृदयेश की आनी है। एक दिन वह भारतीय ज्ञानपीठ में भी गए थे। रवीन्द्र कालिया से मिले

थे। रवीन्द्र कालिया से उनकी कई बार की मुलाकात है। जब कालिया की पुस्तक 'गालिब छुटी शराब' निकली थी तब वह इलाहाबाद उनसे मिलने गए थे। कालिया से कहा था कि शराब और उसके पीने के तौर तरीके के बारे में जितनी उनकी वाकिफीयत है उतनी उनकी नहीं है। कालिया ने दो-एक टी.वी. चैनल वालों को बुला लिया था। किताब के बारे में हुई बातचीत की वीडियो रिकार्डिंग हुई थी। लखनऊ जाने पर वह अखिलेश से बोले थे कि उसका मन जिस ब्राण्ड पर हो वह उसे पिलाएंगे। छका देंगे। पीने में कोई तकल्लुफ, कोई संकोच नहीं होना चाहिए। अखिलेश किताबनुमा एक तिमाही पत्रिका निकालता है।

"पत्रिका का नाम "तदभव" है। 'तदभव' तिमाही नहीं छह माही है। मेरे पास आती है।' उन्होंने बैग से डायरी निकालकर नम्बर मिलाया। रिंग बजते ही बोले अखिलेश, मैं शमशेर सिंह विज़ बोल रहा हूँ, आस्ट्रेलिया वाला आपका परिचिता मैं शाहजहांपुर में हृदयेश जी के पास बैठा हूँ। 'तदभव' तिमाही है या छहमाही? फोन बंद कर कहा, 'आप सही थे। पत्रिका अर्धवार्षिक है।

'आप काफी जानी-मानी शख्शियतों को जानते हैं।'

चेहरे पर मुस्कराहट चौड़ी हुई। मुस्कराहट को दम दिए रहकर बताया कि पत्रकारिता के सिलसिले में झारखण्ड जाने पर उनका परिचय शिबू सोरेन से हुआ था। शिबू सोरेन उस समय भी एक बड़े कद के नेता थे। हाँ, तब मधुकोड़ा कूडा ही थे। उनका शरद पवार की पार्टी वाले डी.पी. त्रिपाठी से भी राव रस्म है। डी.पी. त्रिपाठी जे.एन.यू. के पढ़े हुए हैं और राजनीति की बहुत गहरी समझ रखते हैं। त्रिपाठी ने एक विवाह समारोह में उनकी मुलाकात सहारा ग्रुप के सर्वेसर्वा सुब्रत राय से करायी थी। सुब्रत राय ने अपने जाम से उनका जाम टकराया था। देर तक बातें की थीं। अपनी कार से होटल छुड़वा दिया था। मुम्बई में मकबूल फिदा हुसैन से, जिन्होंने एक्ट्रेस माधुरी दीक्षित पर फिल्म 'गजगामिनी' बनायी है और जो पेंटिंग्स की भी एक महान हस्ती थे, उनसे एक आर्ट गैलरी में मुलाकात हुई थी। हुसैन साहब ने उनसे आस्ट्रेलिया के खूबसूरत स्पाट्स के बारे में ढेर सारी जानकारी ली थीं।

नीचे कॉफी बनी थी। दो कप ऊपर आ गयी थी।

'हृदयेश जी, दिल्ली में राजेन्द्र यादव, रवीन्द्र कालिया व कई दूसरों ने मुझे यहाँ आपके पास आने से मना किया था।'

मन में कहा कि यहाँ आना आपकी मजबूरी थी। उन्होंने बातचीत में बताया था कि एक दिन दिल्ली में बाहर न निकल पाने पर उन्होंने होटल के कमरे में सौ रूपये की उज्रत पर एक आदमी बुलवा लिया था और उससे बातें

करते रहे थे। मन में बाहर आकर कहा, 'उन लोगों का मना करना आपको सही लगा होगा। आप पछता रहे होंगे।'

'हृदयेश जी, आप ग्रेट राइटर होकर भी बहुत सीधे, सरल हैं। आप आस्ट्रेलिया मेरे पास आकर रहिए। टिकट का व दूसरा सारा खर्चा मेरे जिम्मे रहेगा।' 'शमशेर जी, भले ही आपके पास रहने से आपका पीना छूट जाए, लेकिन मेरा शर्तिया शुरू हो जाएगा।'

तीसरे पहर उन्होंने दिनेश रस्तोगी को फोन किया कि वह शाम को कितने वक्त तक तशरीफ ला रहा है। दिनेश ने बताया कि वह हरदोई में है और उसका आना मुश्किल है। हरदोई की दूरी जानकर कहा कि ट्रेन का घंटे भर का रास्ता है, पांच बजे भी चलोगे तो मजे में सात बजे तक आ जाओगे। पांच बजे से पहले दुबारा फोन किया था। दिनेश ने न पहुंचने की विवशता जताकर माफी मांग ली।

शाम को बेटा क्लीनिक के लिए निकला तो क्लीनिक देखने की इच्छा प्रकट कर शमशेर सिंह उसके साथ लग लिए। बेटे ने मेरे एक अन्य साहित्यिक मित्र चन्द्रमोहन को, जो शमशेर सिंह से उनके आगमन वाले दिन मेरे निवास पर मिल चुके थे, बुलवाकर उनको हवाले कर दिया। चन्द्रमोहन उनको थोड़े ही फासले पर स्थित अपने मकान ले गए। चन्द्रमोहन उनकी इच्छा जानकर वक्त जरूरत के लिए रखी बाटल निकाल लाए। सोडा पुराना था। गिलास मोटे कांच के थे। शराब भी यों ही वाली क्वालिटी की थी। बोले, यह नहीं चलेगी। शौक अपनी कद्र चाहता है। वह चन्द्रमोहन को अपने कमरे पर खींच ले गए।

चन्द्रमोहन के आ जाने पर मैंने अपने को मुक्त समझा और नीचे के हिस्से में ही बना रहा। शमशेर सिहं ने चन्द्रमोहन से शिकायत की। कायदे से हृदयेश जी को ऊपर वहाँ उनके पास बैठना चाहिए था। उन पर वहाँ आने के लिए यह दबाव बनाया था कि उनके आने से ऊर्जा मिलेगी। ऊर्जा नीचे सोकर ग्रहण कर रहे हैं।

क्लीनिक से लौटकर साढ़े नौ के आसपास बेटे राकेश ने नीचे से आवाज लगाकर चन्द्रमोहन से कहा कि उनकी पत्नी का फोन आया है। घर पर इंतजार हो रहा है। चन्द्रमोहन के उठने लगने पर शमशेर सिंह ने रोक लिया, पत्नी का बुलावा आपके फोन पर आना चाहिए था, डॉक्टर साहब के फोन पर नहीं। डॉक्टर साहब की पैंतरेबाजी मैं समझ रहा हूँ।

आधा घंटे बाद बेटे ने जीने पर चढ़कर फिर फोन आने की बात कही, पत्नी परेशान है।

बेटा चन्द्रमोहन को ले जाकर घर छोड़ आया।

अल सुबह वही अपने वाले घर जाना, स्नान आदि के आवश्यक कर्मों से निवृत्त होना और नौ बजे तक बेटे वाले घर लौट आना हुआ था। मैं और शमशेर सिंह दोनों वैसे ही छत पर कुर्सी निकालकर सायबान के नीचे धूप छांह में बैठ गए थे। बात की डोर शमशेर सिंह ने ही अपने पास बनाए रखी और उसे अपनी रंगत दी। उनके जल्द–जल्द इंडिया आने पर पत्नी को शक है कि उनके यहाँ इश्क के अड्डे हैं। तीन-चार बार उसने कसम दिलाकर पूछा भी। वह वहाँ अपने एरिया में घूमने निकलते हैं तो कई औरतें घरों के दरवाजे पर खड़ी होकर उन्हें विश करती हैं। वह वहाँ बहुत हरदिल अजीज हैं। आँख की एक खूबसूरत डॉक्टरनी के पास जब आँख की एक या दूसरी समस्या को लेकर वह पांच-सात दिन के फर्क से कई बार गए तो वह बोली थी कि उनकी आँख में कोई प्राब्लम नहीं है, हाँ उनकी नीयत में प्राब्लम है।

शमशेर सिंह को देहरादून के अपने होटल को फोन करना याद आ गया था। उनकी वापसी दिल्ली की न होकर अभी देहरादून की थी। होटल ने बताया कि उनका कमरा जैसा कि उन्होंने चाहा था आगे चार दिन के वास्ते और बुक कर लिया गया है। शमशेर सिंह की भेंट दिल्ली में एक जादूगर से हो गयी थी। उन्होंने उससे कहा था कि वह उसकी पार्टी का शो आस्ट्रेलिया में करा देंगे। विदेश में प्रोग्राम मिलने का रास्ता खुल जाएगा। देहरादून में रूकने के बाद उनको एक निकटवर्ती शहर में उसके घर पर रूकना था। जादूगर ने फिर उन दिनों अपनी उपस्थिति अन्यत्र बता दी थी। उस दिन उन्होंने नीचे उतरकर पहली बार मेरे साथ वहाँ लंच लिया था।

बेटा वहाँ मेरे होने के कारण मेरी डाक लेता आता था। डाक में खुशवंत सिंह के उपन्यास 'सनसेट क्लब' की वीरेन्द्र सक्सेना द्वारा उपलब्ध करायी गयी जीराक्स कापी थी। वीरेन्द्र ने 'चार दरवेश उपन्यास' पढ़कर सूचित किया था कि खुशवंत सिंह ने भी जीवन की संध्या बिता रहे वृद्धों के बारे में लिखा है हालांकि वहाँ वृद्ध खुशवंत सिंह के वर्ग और उनकी जैसी मानसिकता के हैं। शमशेर सिंह ने उस उपन्यास के यहाँ-वहाँ से दो-एक पैराग्राफ पढ़कर कहा, बढ़िया मालूम होता है। कल आयी एक पत्रिका के एक लेख की चंद पंक्तियों पर नजर दौड़ाकर उसके बढ़िया होने की बात कही थी।

तीसरे पहर वहीं गली में नाई की दुकान पर वह शेव बनवा आए। कहा कि सैलून में बनवाने की लक्जरी का सुख लिया है। बीस रूपये पाकर सैलून वाले ने एयर इंडिया के महाराजा की तरह सलाम किया था।

पांच बजे चाय पीने के बाद उन्होंने गर्म पानी से स्नान करने की इच्छा प्रकट की। नीचे के बाथरूम में गीजर की व्यवस्था थी। स्नान कर उन्होंने उन्नावी कलर का कुर्ता-पाजामा पहन लिया। बोले कि वह एकदम तरोताजा महसूस कर रहे हैं। मैं सुबह घर से आते हुए अपनी दो पुस्तकें लाया था। 'पुस्तकें भेंट करने का यह एकदम सही समय है', ऐसा कहते हुए मैंने उनको पुस्तकें सौंप दीं। पुस्तकों पर मेरे हस्ताक्षर पाकर वह खिल उठे, 'मेरी इच्छा का आपने सत्कार किया है।'

जब मैं सात बजे के आसपास ऊपर पहुंचा, शमशेर सिंह पी रहे थे, मेज पर पीने का सारा साजोसामान सजाए। सूरज अस्त, शमशेर सिंह मस्त। मराठी के जाने माने रंगकर्मी वसंत गोविंद पोतदार फक्कड़ हालत में एकल नाटक के मंचन के लिए इलाहाबाद पहुंचे थे। नरेश मेहता ने उनको आश्रय दिया था। यह जानकर कि मेहता जी वैष्णव प्रकृति के हैं, पोतदार ने अपने ठहरने की वहाँ पूरी अवधि में शराब का एक घूंट भी गले के नीचे नहीं उतारा था। यह मानते हुए भी कि शमशेर सिंह पोतदार के विलोम हैं, मैंने यह आशा नहीं की थी कि उस शाम भी वह अपने को शराब के हवाले कर देंगे।

'दो घंटे बाद आपकी ट्रेन हैं। नशे की हालत में आप अपनी रकम, अपना सामान गवां सकते हैं।'

'थोड़ी-सी ले लेने पर मेरा दिमाग और भी चाक-चौबंद हो जाता है।

बबिता 'बहू छत पर फैले कपड़े समेटने आयी थी। कमरे में भी बढ़ आयी, 'कमाल है, इन्होंने आज भी पीना जरूरी समझा। हैरत है, चाचा जी, (मेरे लिए संबोधन) आप इनको पीने से रोकिए। इनको लेकर हम लोगों की भी कुछ जिम्मेदारी है।' वह बड़बड़ाती हुई जीना उतर गयी।

'मुझे कमरे की सारी लाइट्स खोलकर बैठना पसंद है। आपकी बहू मेरे ऐसा बता देने पर भी जब भी ऊपर आती है, लाइट्स ऑफ कर जाती है। आस्ट्रेलिया में मैंने अपनी वाइफ की इस तरह की हरकत पर झापड़ जड़ दिया था। ससुरी पिनपिना कर बेटी के घर चली गयी थी। आपकी बहू बहुत तेज है।

मैंने हाथ जोड़ दिए।

मैं यहाँ आपकी पोजीशन समझता हूँ।

मैंने दुबारा हाथ जोड़ दिए। हथेलियां कस लीं।

दस मिनट बाद बबिता ने जीने की आधी सीढ़ियों तक आकर बताया कि अदिति का फोन आया है। अदिति का भी कहना है कि नशे की हालत में सफर करना सही नहीं है।

'अदिति कौन?'

'मेरी पोती है। राजस्थान में यूनिवर्सिटी में पढ़ाती है।'

'बबिता खुद लड़की है। उसके इतनी बड़ी लड़की। डॉक्टर साहब की क्या यह सेकेण्ड वाइफ है?

'पहली वाइफ है।'

मैं नीचे के हिस्से में आ गया। आधे घंटे बाद ऊपर जाकर बताया कि राकेश (बेटा) को डॉक्टरों की एक मीटिंग में शामिल होना है। वह क्लीनिक से सीधा निकल जाएगा। उनको स्टेशन छोड़ने बबिता चलेगी। बबिता पड़ोस के एक लड़के से उनका सामान नीचे उतारने के लिए बोल आयी है। वह अपनी अटैची, बैग वगैरह सही कर लें।

अगले आधे घंटे के अंदर हम कार में थे-बबिता ड्राइविंग सीट पर, मैं और शमशेर सिंह पिछली सीट पर।

'हृदयेश जी, मैं उस किस्म का पियक्कड़ नहीं हूँ जो पीकर गिरते, बहकते हैं। तीन-चार पैग के बाद भी मेरे होशोहवास दुरूस्त रहते हैं।'

'दिनेश रस्तोगी आपसे पूछकर 'अहा जिंदगी' ले गया था। अगले दिन आप मुझसे पूछ रहे थे, मेरी मैगजीन मिल नहीं रही है।' अल्प विराम के बाद, 'नशे में आपने मेरा मखौल तो उड़ाया ही, मुझे गालियां भी दीं।

'मैंने आपको गालियां दीं?

'मेरी आपने जो वीडियोग्राफी की है, उसे देखकर यकीन कर लीजिएगा।'

स्टेशन आ जाने पर मैं कार में बैठा रहा। कहीं अंदर अपराध बोध था। बबिता एक कुली बुला लायी। कुली के साथ दस कदम बढ़कर शमशेर सिंह लौट आए, 'कुली बता रहा है गाड़ी बारह बजे रात जाएगी।' गाड़ी के लेट होने का हमको इल्म था। ''मैंने कुली को बोल दिया है, साहब को कोई परेशानी नहीं होनी चाहिए। गाड़ी में ठीक से बैठा दे। साहब से उसको पचास रूपया मिलेगा।' बबिता का स्वर निस्पृह था। अगली सुबह फोन बजा, 'मैं देहरादून अपने होटल से बोल रहा हूँ। सफर में कोई परेशानी नहीं हुई। आपकी भेंट की गयी पुस्तकें फुरसत से पढ़ूंगा।

मैंने रवीन्द्र कालिया का नया उपन्यास '17 रानडे रोड' पढ़ा था। उसमें कई अति विचित्र, अजूबे, अविश्वसनीय चरित्र हैं। कुछ दिनों बाद जब कालिया जी से बातचीत का मौका मिलने पर मैंने कहा, 'मुझे लगता है कि शमशेर सिंह 17 रानडे रोड से निकलकर सीधे यहां चले आए थे' उन्होंने जोरदार ठहाका लगाया। ठहाका देर तक फोन पर गूंजता रहा।

कचाल और सहस्राब्दी का बाल-सूर्य

सुधीर सक्सेना

वह सहस्राब्दी की भोर की पहली किरण थी.....

निमिष मात्र में ही हम बाल-सूर्य की कोमल रश्मियों में नहा उठे। वह पुलक से भरा अदभुत क्षण था। हम हिन्द महासागर में स्थित कचाल द्वीप में थे, भारतीय तट से करीब डेढ़ हजार किलोमीटर दूर होकर भी भारत में। भारत जो सचमुच महादेश है, छोटे-छोटे अनेक 'देशों' का समुच्चय। सुन्दर, विविधवर्णी और विलक्षण।

सहस्राब्दी की उदय बेला का साक्षी होना अविस्मरणीय था और अनिर्वच भी। वह सुबह न भूलने लायक सुबह थी, उम्मीद के उजास से भरी हुई उजली सुबह। "आज हमारे यहां लोग सूरज देखने आये हैं'-उस निकोबारी महिला, जिसने रबड़ बागान में मुझसे यह बात कही, का चेहरा भी सूर्य की तरह था, तांबई, गोल और खिला हुआ। वह पक्की नालियों में बहते पानी में रबड़ की शीटें पछींट रही थी। उसका चेहरा रोशन था और रोशनी हर कहीं फैली हुई थी। सूर्य ने न तो अपना स्वभाव बदला था, न कृपणता बरती थी, न नाजो-नखरे दिखाये थे, और न ही किसी भूखण्ड, सागर, नदी, पर्वत माला वनप्रांतर या उपत्यका को छला था, मगर सृष्टि का विधान ऐसा था कि लोग सूरज देखने कचाल आये थे। बंगाल की खाड़ी में स्थित उस कचाल में, जहाँ बहिरागतों और सैलानियों का प्रवेश वर्जित है। बीती शाम हठात बादल बरस रहे थे। बादलों का बरसना लोगों के मनों में संदेह के बादलों का घनीभूत होना था। आकाश में मेघ-शावक स्वच्छंद किलोल कर रहे थे। भय था कि कहीं मेघों के छौने बाल-अरूण को छेंक न लें।

इसे सहस्राब्दी का सौभाग्य कहें कि हम सबका कि मेघों ने धृष्टता नहीं की। सहस्राब्दियों से बिला नागा उगने के अभ्यस्त रश्मिरथी सूर्य ने अपनी मर्यादा भंग नहीं की। पौ फटी और प्राची में पहले लालिमा उठी और फिर सूर्य उठा। यह सहस्राब्दी का बाल सूर्य था, ललछौंहा, कांतिमय और दीप्तिमान। ऐसे ही बाल-सूर्य को कंदुक समझकर पवनपुत्र आंजनेय हनुमान खेलने को मचल उठे थे। एक किंवदंती यह भी है कि अंडमान-निकोबार, जिसमें कचाल स्थित है, का नामकरण हनुमान से हुआ है। बहरहाल, दृष्टि के फलक में सूर्य का उभरना था कि अयप्पा मंदिर के पुजारी कुमार ने शंख फूंक दिया। जलपोत स्वराज द्वीप पर लोगों के हाथ अभ्यर्थना और अवगाहन में जुड गये। किसी ने गायत्री मंत्र का जाप किया तो किसी ने नमन। किसी ने जहाज की रेलिंग पर नारियल फोड़ा तो किसी ने

कोई और अनुष्ठान किया। आज का सूर्य कल के सूर्य से भिन्न नहीं था। इर्द-गिर्द सब कुछ वैसा था, जैसा बीते कल था, मगर प्रसंग ऐसा था कि सूर्य के चिरंतन प्रकाश में आभा नई प्रतीत हो रही थी। माहौल में उत्तेजना थी और टापू पर नयी सजधज और नई चहल-पहल। भारतीय कालगणना की दृष्टि से यह किसी नये युग का प्रारंभ नहीं था, लेकिन पश्चिमी अवधारणा और ईस्वी सन् की गणना के गगनचुंबी उदघोष का नतीजा कि विश्व के लिये यह नये मिलेनियम का प्रारंभ था। अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह में स्थित कचाल द्वीप में सूर्य की प्रथम किरण का आगमन ईस्वी सन् की तीसरी सहस्राब्दी के शुभारंभ का द्योतक था। लगभग समूचा विश्व उत्फुल्ल था और छोटा सा कचाल द्वीप मगन।

सागर की उत्ताल तरंगों में कच्छप के पृष्ठ भाग की तरह उभरे कचाल द्वीप में जीवन जागे सहस्राब्दियां बीत गयीं, किंतु किसी को स्वप्न में भी गुमान न था कि एक सहस्राब्दी ऐसी भी आयेगी जब भोर की पहली रश्मि संपूर्ण भू-मंडल में कचाल का नाम रोशन कर देगी। कचाल के विस्तार और जनजीवन को भगवान भुवन भास्कर ने पहले भी आलोकित किया था। पहले भी यहां की वनस्पतियां कोमल किरणों में नहायी थीं, किंतु इस ताजा भोर की बात अलहदा थी। यह भोर बीती सहसों भोरों से भिन्न थी, जब सूर्य की पहली किरण पृथ्वी पर अन्यत्र कहीं नहीं, वरन इस मधुमय देश में स्थित कचाल पर पड़ी थी। सदियां बीत गयीं किंतु बीती किसी भी सदी में भोर की पहली किरण को लेकर विश्व में ऐसा विवाद और बखेड़ा नहीं उठा था, जैसा कि ईस्वी सन् के 2000 वें वर्ष की पूर्व बेला में। विद्वानों व वैज्ञानिकों को यह तय करना था कि मिलेनियम की पहली किरण कहां अवतरित होगी? दावेदार कई थे और असमंजस घना था। दावेदारों में अव्वल था न्यूजीलैण्ड। न्यूजीलैण्ड को यकीन था कि उसकी राजधानी क्राइस्ट-चर्च से करीब पांच सौ मील पूर्व में स्थित चेल्थम टापू पर पहली स्वर्ण-किरण उतरेगी। चेल्थम के इस दावे को प्रशांत महासागरीय देश किरीबाटी के दावे ने ग्रहण लगा दिया। फिर आई टोंगा की बारी। टोंगा ने संयुक्त राष्ट्र संघ से कहा कि सहस्राब्दी का अरूणोदय कहीं और नहीं, बल्कि टोंगा में होगा। विवाद और तूल पकड़ता, मगर रॉयल ग्रीनविच वेधशाला के वरिष्ठ खगोलविद डॉ. राबिन एम. कैचपोल ने गंभीर पड़ताल के बाद घोषणा की, कि सहस्राब्दी का बालारूण अंडमान-निकोबार द्वीपसमूह में बसे कचाल में उदित होगा।

रॉयल ग्रीनविच वेधशाला की उक्त घोषणा की देर थी कि अनजाना और अचीन्हा कचाल सुर्खियों में आ गया। कचाल को लेकर लोगों में जिज्ञासा और उत्सुकता उमग उठी। कहाँ है कचाल? निकोबार द्वीप समूह का समुद्र कच्छपों,

घड़ियालों और प्रवालों के लिये जाना जाता है। यहाँ शार्क मछलियां भी होती हैं। कचाल उष्ण कटिबंध में 93:30 डिग्री रेखांश तथा 8:00 डिग्री अक्षांश के मध्य पोर्ट ब्लेयर से दक्षिणवर्ती केंपबेल खाड़ी के रास्ते पर स्थित है। 174 किमी में फैले कचाल की पोर्ट ब्लेअर से दूरी 230 नॉटिकल भी है। यहाँ हर समय बंद समुद्री हवायें चलती रहती हैं। निकोबार द्वीपसमूह में यूं भी अनेक दुर्लभ किस्म के फूलों और परिंदों का अस्तित्व है। कचाल में भी ऐसा ही पर्यावरण है। यहाँ नारियल बहुतायत से होता है। परिवेश इस कदर संवेदनशील है कि यहाँ एक साथ ज्यादा लोगों को नहीं उतारा जा सकता है। कभी तिहन्यू नाम से चर्चित रहे कचाल की जनसंख्या तकरीबन दस हजार है। भारत से करीब डेढ़ हजार किलोमीटर दूर स्थित कचाल में फकत दो फीसदी लोग ऐसे हैं, जिन्होंने मुख्य धरती देखी है, अन्यथा पौने दो सौ वर्ग किमी का कचाल ही इनकी दुनिया है। भारत से इतनी दूरी के बावजूद कचाल मिनी भारत है। आदिवासी बहुल कचाल में हिन्दू, मुस्लिम और ईसाई धर्मावलंबी हैं। यहां चर्च है, शिवमंदिर हैं और मस्जिद भी। कुछ जगह सारी की सारी बस्ती ईसाइयों की है। दसवीं तक पढ़े अफनी का परिवार ईसाई है और कुटुंब में बीस से भी ज्यादा जने हैं। कचालवासियों के घर अनूठे होते हैं। वे जमीन में लट्ठे गाड़कर उन पर लट्ठों, फट्टों और तख्तों से घर बनाते हैं। लट्ठों पर इसलिये कि वे समुद्री लहरों से सुरक्षित रहें। निकोबारी घरों, स्वाभाविक तौर पर कचाल में भी सुअरों, मुर्गियों और बकरियों के लिये अलग से बाड़े देखने को मिले। कचाल में वृक्षों की हरीतिमा आंखों को रूचती है। समुद्र का हरा-नीला विस्तार विस्मयकारी सुखद अनुभूति से भर देता है। समुद्र को देर तक निहारना ऐसा अदभुत सुकून है, जिसे सहज ही शब्दों में बयां नहीं किया जा सकता है।

कचाल में समुद्र की लहरें शोख हैं। वे तट का आहिस्ता से स्पर्श नहीं करतीं, वरन पछाड़ खाती नजर आती हैं। अलबत्ता कचाल का पुलिन खूबसूरत है और आमंत्रण में बाँहे फैलाये दृष्टिगोचर होता है। वहाँ विचरते हुये बरबस सुमित्रानंदन पंत की निम्न काव्य पंक्तियां स्मरण हो आयीं। 'आलोडित अंबुधि फैनोन्नत कर शत शत फन। मुग्ध भुजंगम सा इंगित पर करता नर्तन' का अर्थ यहां नये सिरे से उदघाटित होता है। कचाल में डाब (ताजा नारियल पानी) पीने का मजा ही अलग है। कचाल में बिना अनुमति बाहरी लोगों का प्रवेश मना है। बोतलें व डिब्बाबंद चीजें यहां खूब आती हैं। कायदे से यहां बोतलों व डिब्बाबंद पेयों की जगह डाब को प्रोत्साहित करना चाहिये। अंडमान-निकोबार के पूर्व सांसद विष्णुपद राय इसी मत के हैं। उनका मत है कि द्वीप समूह में पर्यटन की विपुल

संभावनायें हैं, किंतु वे पर्यटन की स्वदेशी अवधारणा के हिमायती हैं। वे कहते हैं कि सैलानी यहां आयें तो यहां के सत्कार का आनंद और उनकी स्मृति लेकर जायें। सैलानी डाब पियें, लाल केला खायें, घोबड़ा मछली और केकड़े का स्वाद लें, नारियल में पकी लोब्स्टर और शूकर-मांस के विशिष्ट निकोबारी व्यंजनों को चखें, तो उसका मन फिर कचाल और समीपवर्ती द्वीपों में आने को ललचेगा। यहां प्रवाल (कोरल) के सुंदर द्वीप है। दुर्लभ समुद्री प्रजातियां हैं, विशिष्ट फल-फूल और वनस्पतियां हैं। गौरतलब है कि अंडमान निकोबार की 570 द्वीप-द्वीपिकाओं में 500 से अधिक निर्जन हैं। देशी-विदेशी सैलानियों के लिये यहां स्पेशल पैकेज-टूर संचालित किये जा सकते हैं, किंतु इस संदर्भ में यह भी अपेक्षित है कि यहां की प्राकृतिक संवेदनशीलता, जनजातीय एवं सांस्कृतिक वैशिष्ट्य तथा सुरक्षा-तकाजों को क्षति नहीं पहुंचे। प्राकृतिक श्री सुषमा से समृद्ध यह द्वीपसमूह जल क्रीड़ाओं, स्कूबा-डाइविंग, स्नॉर्कलिंग, ट्रैकिंग और आईलैंड-कैंपिंग आदि के लिये अद्वितीय स्थली है।

सहस्राब्दी के प्रथम अरूणोदय का चाक्षुष-अनुभव जितना यादगार है, उतनी ही यादगार है स्वराज-द्वीप नामक जलपोत की गयी सागर-यात्रा। कोलकाता से पोर्टब्लेयर की 1255 किमी की हवाई यात्रा के पश्चात् पोर्टब्लेयर से कचाल की यात्रा हमने जलपोत में की। 157 मीटर लंबा और 21 मीटर चौड़ा 4701 टन का स्वराज-द्वीप विशाखापट्नम में तैयार होकर पहली सामुद्रिक-यात्रा पर निकला था। कह सकते हैं कि स्वराज द्वीप का जलावतरण ही सहस्राब्दी के सूर्योदय की अगवानी के प्रयोजन से हुआ था। जलपोत पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं के प्रतिनिधियों और इलेक्ट्रोनिक मीडियाकर्मियों के अतिरिक्त फ्रांस और जर्मनी के पत्रकार भी थे। इसी जलपोत में विष्णुपद राय और अंडमान निकोबार के तत्कालीन लेफ्टिनेंट गर्वनर ईश्वरी प्रसाद गुप्त भी यात्रा कर रहे थे। समुद्र के आक्षितिज विस्तार में तीन दिन यात्रा करना एक विरल और रोमांचक अनुभव था। गति के बावजूद कभी जहाज के निस्पंद होने का अनुभव हुआ, तो कभी इतना भारी जहाज भी लहरों में डगमग नजर आया। जहाज के कप्तान शेषाद्रि ने कई बार घोषणा भी की कि सचेत रहें, क्योंकि समुद्र किसी को बख्शता नहीं है। बेशक, कचाल की यात्रा में ही जाना कि समुद्र का अलग रिवाज है और अलग अलबेला मिजाज। समुद्र के गर्भ में एक अलग सुंदर और कोमल दुनिया स्पंदित है, जो हम थलचरों से मानवीय सलूक की मांग करती है। कचाल के लोगों, मसलन जूलियाना डुंगडंग, सलामी व मरियम कुजूर-की दुनिया भी अलग है। कचाल के पास इन्हें संतुष्ट व संतृप्त करने को बहुत कुछ है। इस थाती में

आक्रामक हस्तक्षेप किये बिना इसे और पोसा जा सकता है।

कचाल में बाल-अरूण देखकर हम जब कचाल से रवाना हुये, तो सूरज डूबा नहीं था। सूरज हमारे साथ था। सहस्राब्दी के प्रथम अरूणोदय की स्मृति में कचाल में सूर्य-स्तंभ का शिलान्यास उल्लेखनीय घटना थी। पता नहीं कि सूर्य-स्तंभ आकार ले सका या नहीं? घड़ी के कांटे में तब भोर में 5 बजकर 28 मिनट थे, जब वसुंधरा पर पहली किरण उतरी थी। कुछ घटनायें ऐसी होती हैं, जो घटने के बाद स्मृति के घट में सुरक्षित रहती है हैं। कह सकते हैं कि तब एक जनवरी को सूर्य डूबकर भी नहीं डूबा। उस रोज रश्मिरथी स्मृति पटल पर सदा के लिये अंकित हो गया। इस अरूणोदय से बरसों पहले कविवर जयशंकर प्रसाद ने लिखा था: 'अरूण यह मधुमय देश हमारा।' ईसा की तीसरी सहस्राब्दी के सूर्योदय ने कविता की इस पंक्ति के साथ-साथ कविता की समय के पार देखने की शक्ति को भी रेखांकित कर दिया।

यह 1 जनवरी सन् 2000 का वृतांत है। कचाल में सहस्राब्दी की भोर में जो टटका ताजा सूर्य उगा था, वह कभी डूबता नहीं। घड़ी में कांटे सरकते रहते हैं। दिन भर ऊर्जा और उजास बांटकर थका-मांदा सूर्य महासागरों, नदियों, पोखरों में मज्जन कर अगली सुबह फिर हमारे साथ होता है। खूबसूरत, लाल और तरोताजा।

यही सूर्य चीन में बड़ी दीवार पर होता है। भारत में कोणार्क, ब्राजील में रियो, जापान में टोक्यो, दक्षिण अफ्रीका में केप टाउन और अमरीका में केप केनेडी में भी यही सूर्य होता है। अलास्का और अंटार्कटिका में भी यही सूर्य चमचमाता है। यही सूर्य हर नये वर्ष की भोर में हमें फिर नजर आयेगा... कैलाश से लेकर कुरूक्षेत्र और कन्याकुमारी तक उतना ही सुख...ताजा...टटका...। आइये इस बाल-अरूण की बाँहें फैला कर अगवानी करें।

बहुत उदास है महादेवी की, जन्मस्थली

सुधीर विद्यार्थी

भारतीय क्रांतिकारी आंदोलन के सजग विश्लेषक और संस्मरणकार सुधीर विद्यार्थी वर्ष 1993 से 1996 तक उत्तर प्रदेश के फर्रूखाबाद जनपद में रहकर वहाँ के जनपदीय इतिहास के सूत्रों की गहन खोजबीन में संलग्न रहे। उनकी डायरी के इन पृष्ठों में क्रांतिकारी शहीद मणीन्द्र नाथ बनर्जी, महादेवी वर्मा, प्रख्यात शायर गुलाम रब्बानी ताबां, प्रतिष्ठित पत्रकार-लेखक पं. बनारसीदास चतुर्वेदी, इतिहासकार जयचन्द्र विद्यालंकार, क्रांतिकारी संगठनकर्ता शचीन्द्रनाथ सान्याल तथा वर्धा में रहे प्रो. रघुराज सिंह रंजन की दुर्लभ स्मृतियों के साथ ही विस्मृत लोकगायकी आल्हा का अनोखा साक्ष्य दर्ज हुआ है। पाठकों के लिए प्रस्तुत है डायरी के प्रमुख अंश:

फर्रूखाबाद में हो रहे 'पांचाल शोध संस्थान' के अधिवेशन में कानपुर के हमारे मित्र जगदीश जगेश आए। वे कुटरा कालोनी में आकर मुझसे मिले। मणीन्द्र की बड़ी जीवनी लिखने के लिए अपने पास उपलब्ध सामग्री मुझे सौंपने के बाद वे बोले-चलो, फर्रूखाबाद चलें। महादेवी वर्मा का जन्म स्थान देखना चाहता हूँ। रिक्शे से चलेंगे, शहर देखते हुए।

शहर के घुमना चौराहे से गली गणेशप्रसाद में पहुंचे तो एक वृद्ध महिला स्वराज्य देवी तिवारी से भेंट हुई। अपने छोटे-से मकान के भीतरी दालान से सटे कोठे को दिखाते हुए वह बोलीं-यहीं महादेवी जी का जन्म हुआ था। यह ननिहाल थी उनकी। घर उनका इसी शहर के नाला मछरहट्टा में है।

अत्यन्त साधारण-से दिखाई पड़ने वाले इस मकान के आसपास न तो कोई बोर्ड लगा है, न ही पत्थर जो बाहर से आने वाले साहित्य प्रेमियों को महादेवी जी के जन्मस्थल की जानकारी मिल सके। एक सज्जन ने हमें बताया कि कुछ वर्षों पहले फर्रूखाबाद में 'महादेवी शोध संस्थान' स्थापित करने की भी घोषणा हुई थी लेकिन उनकी कीर्ति-रक्षा की वह योजना स्थानीय राजनीति की भेंट चढ़ गई। इस शहर के पल्ला तिराहे पर महादेवी जी की संगमरमर की एक प्रतिमा लगी हुई है जिसका अनावरण डॉ. शिवमंगल सिंह 'सुमन' ने किया था। फाल्गुन पूर्णिमा को महादेवी जी के जन्मदिन पर कुछ लोग इस स्मारक पर फूल चढ़ाने के लिए इकट्ठा होते हैं लेकिन सब कुछ रस्म अदायगी जैसा ही रहता है। उनके उपेक्षित जन्म स्थान की तरह यह प्रतिमा भी भीड़ भरे बाजार में स्तब्ध

और खामोश खड़ी है। वहाँ से गुजरने वाले किसी व्यक्ति का ध्यान उस ओर नहीं जाता।

आधुनिक मीरा कही जाने वाली महादेवी जी जीवन भर जहर पीती रहीं। उनके काव्य में 'नीर भरी दु:ख की बदली' घुमड़-घुमड़ कर बरसती है। एक बार फर्रूखाबाद के बद्री विशाल कालेज के दीक्षांत समारोह में वे यहाँ प्रधानाचार्य महिमाचरण सक्सेना के निमंत्रण पर आई थीं। सक्सेना ने उनसे पूछा था- आप चाय लेंगी या कॉफी? उन्होंने उत्तर दिया-जिसमें जहर अधिक हो। मनुष्य से नीलकंठ बन जाने की शायद यही उनकी गाथा थी। श्रीमती स्वराज्य देवी हमें बताती हैं-मैं उस वक्त बद्री विशाल कालेज में महादेवी जी से मिलने गई थी। मैंने घर आने पर उनसे बहुत आग्रह किया लेकिन आई नहीं वे।

फर्रूखाबाद की उनकी वह पहली और अंतिम यात्रा, लेकिन अपने जन्म स्थान को देखे बिना ही वापस लौट गई वे, क्यों? यह प्रश्न मैंने स्वराज्य देवी से नहीं, जैसे स्वयं से किया था। महादेवी जी के संस्मरणों में भी उनका वह शहर हमें कहीं ढूंढने पर भी नहीं मिलता।

फर्रूखाबाद में पल्ला स्थित पुराने पुस्तकालय को अब महादेवी वर्मा के नाम से जाना जाता है पर वह भी उनकी जन्मस्थली की तरह उपेक्षित और सुनसान पड़ा है। नगर के सबसे भव्य, विशाल तथा सर्वाधिक पुस्तकों वाला यह पुस्तकालय कई परिवर्तनों के दौर से गुजरा। कभी नाम बदले गए तो कभी पुस्तकालयाध्यक्ष। नगर के अनेक महत्वपूर्ण व्यापारी, साहित्यकार, शिक्षक, अधिवक्ता इस पुस्तकालय से जुड़े किन्तु सभी की नजर पुस्तकालय संचालन पर न रह कर पुस्तकों पर रही, जो पुस्तकालय की अलमारियों से निकल कर इन पदाधिकारियों के घरों में इकट्ठी होती रहीं। पल्ला पार्क से जुड़े इस पुस्तकालय की गरिमा और भव्यता निजी स्वार्थों के कारण कुछ लोगों ने पूरी तरह तहस-नहस कर डाली। पुस्तकालय की सीढियाँ और चबूतरे को तोड़कर इसे पल्ला पार्क से अलग-थलग कर दिया गया। पुस्तकालय में प्रवेश के लिए काफी घूम कर एक रास्ता दिया गया। जब लोगों ने इस पर रोष व्यक्त किया तो पल्ला पार्क की चहारदीवारी के बाहर छोटी-सी सीढ़ियाँ बनवा दी गई।

महादेवी जी के इस शहर में एक साहित्यिक संस्था है 'अभिव्यंजना'। गजलकार शिवओम 'अम्बर' इसे चलाते हैं। वे कचहरी के निकट एक पुराने विद्यालय में अध्यापकी करते हैं। मिले तो बताया कि वे पल्ला मार्ग को 'महादेवी वर्मा मार्ग' बनवाने और रेलवे स्टेशन के मुख्य द्वार पर उनके जीवन परिचय की बड़ी पट्टिका लगवाने के लिए प्रयत्नशील हैं.....

आल्हा: विलुप्त होती लोक गायकी

गंगा के घटिया घाट पर जुड़ने वाले रामनगरिया मेले में सांस्कृतिक कार्यक्रमों को देखने की मेरी इच्छा पूरी नहीं हो पाई। वहाँ से देर रात फतेहगढ़ लौटने की समस्या थी। ऐसे में इस इलाके की आल्हा सुनने की ललक मन में बनी रही। अरूण बघेल बोले-किसी रोज आल्हा के गवैये बुलावा लेंगे, रात भर सुनेंगे। पर वैसा हो नहीं पाया। बघेल की बातें बहुत मजेदार होती थीं। बहुत ऊंची उड़ान थीं उनमें। पर कुछ भी वे जमीन पर नहीं उतार पाए कभी और एकाएक अदृश्य हो गए। हम तलाश करते रह गए उन्हें।

मार्च आधा बीत चुका था। लेकिन उस सुबह मौसम में थोड़ी नमी थी। ऊपर बादल भी छितरे हुए थे। मैं कचहरी जल्दी पहुंच गया। चाय के होटल खुल चुके थे। दस-बीस वादकारी यहाँ-वहाँ सिर झुकाए घर से लाई पोटलियों से निकाल कर रूखा-सूखा खा रहे थे। बकुला साहिबान अभी नहीं आए थे, पर उनके कुछेक मुंशी समय से पेश्तर आकर तारीख की मिसलों को तरतीब देने में मशगूल थे। मैं जिलाधिकारी की ओर बढ़ लिया।

एक पुरानी कब्र है यह। जगह-जगह से टूटी और जल्दी अपना वजूद खोने को बेताब। इसके किनारों और सतह पर पेड़ उग आए हैं। इस पर लगे पत्थर को साफ करके पढ़ता हूँ। लिखा है-थामस हेमिल्टन, मुख्य सर्जन की याद में। निधन अगस्त 1788 को 50 वर्ष की उम्र में।

यहाँ ईंटों और मिट्टी के बोझ तले सो रहे इस ब्रिटिश अधिकारी को क्या पता कि जिस हूकुमत का वह नुमाइन्दा था, वह यहाँ से कब की विदा हो चुकी है।

मैं थोड़ा आगे बढ़ जाता हूँ। जिलाधिकारी की नाम, पट्टिका देखकर मुझे चार्ल्स इलियट की याद आती है। इलियट 1865 में फर्रूखाबाद के कलेक्टर थे। उस अंग्रेज अधिकारी ने लोकमानस में बिखरे 'आल्हखंड' के छन्दों को संकलित 1871 में उन्हें लिपिबद्ध कराकर प्रकाशित भी करवाया। न जाने कलेक्टर इलियट तब कहाँ बैठते होंगे। कैसा रहा होगा उनका दरबार। उस एक विदेशी ने हमारे देश के एक ऐसे लोककाव्य को लिखवाने में दिलचस्पी दिखाई जो सदियों से स्मृतियों की ऊंगली पकड़ कर जनमानस में यात्रा करता आ रहा था।

मैं मन-ही-मन इलियट को याद करता हूँ...

कहा जाता है कि श्रीमान इलियट की अदालत में एक मुकदमा आया। कत्ल का था। अपराधी ने 'आल्हखंड' की पंक्ति सुनकर अपने शत्रु की हत्या कर दी थी। पंक्ति इस प्रकार थी-जाको बैरी जिंदा बैठो, ताके जीवे को धिक्कार।

इलियट ने अपराधी से हत्या का कारण पूछा तो उसने आल्हा का वही छन्द सुना दिया। अंग्रेज अधिकारी हैरान। क्या ऐसा भी कोई लोककाव्य है जिसकी इतनी उत्तेजक भावप्रवणता। वह इसके बारे में पूरी जानकारी पाने को उत्सुक हो उठा। आसपास से आल्हा के गवैये बुलवाए गए। सुना गया पूरा आल्हा। फिर शुरू हुआ उसके कागज पर उतारे जाने का सिलसिला। पहली बार जब यह 1871 में छपा तो उसके बाद अनेक आल्हा गायकों और कवियों के नाम से इसके संस्करण प्रकाशित होते रहे। बाबू श्यामसुंदर दास के संपादन में आल्हखंड का प्रकाशन नागरी प्रचारणी सभा से हुआ था। गंगा प्रसाद रचित आल्हखंड भी गायकों के बीच लोकप्रिय रहा। चालीस के दशक के आसपास महाभारत कथा को दोहा-चौपाइयों में निबद्ध करने वाले रूबल सिंह चौहान रचित आल्हखंड भी खूब गाया गया। कहते हैं कि जगनिक के मूल काव्य की प्रति आज कहीं उपलब्ध नहीं है।

कन्नौजी लोक संस्कृति में रचे-बसे इस लोककाव्य में आल्हा, ऊदल, मलिखान और लाखन की यशोगाथाएं गाई गई हैं। महाकवि जगनिक ने वीरगाथाकाल की परम्परा से हटकर 'प्रतापी राजाओं' की जगह परमाल के आश्रित आल्हा और ऊदल को अपने काव्य का नायक बनाकर उन्हें जनमानस तक पहुंचाया। इस काव्य में श्रंगार और वीरता की जो अदभुत अभिव्यक्ति है, वह अन्यत्र देखने को नहीं मिलती। आज भी सावन-भादों में वर्षा की झड़ी लगती है तो गांवों की चौपालों में आल्हा जोश-खरोश के साथ गाने और सुनने के लिए लोग जमा हो जाते हैं। ढोलक की थाप और मंजीरों की झनकार के संग आल्हा के स्वर श्रोताओं को बेपनाह बांध लेते हैं-कारी बदरिया बहिना मोरी, तोसे कहउं मैं हाथ उठाय, आज बरस जा मोरे करवज में कन्ना एक रैन रहि जाय।

आल्हखंड में जनमानस को आकर्षित करने की गजब की क्षमता है। दूसरा कोई काव्य अभी तक उसकी जैसी लोकप्रियता हासिल नहीं कर पाया। यद्यपि इसमें असंभावित कल्पनाएँ और अतिश्योक्तियाँ हैं जिनके कारण इस काव्य का रंग ही कुछ अलग है। यह निश्चय ही वीर रस की कालजयी रचना है जिसे हिंदी जनता का अनोखा प्यार मिला। कहा जाता है कि जगनिक के मूल ग्रंथ के बाद आल्हखंड के अनेक प्रकाशन हुए जिनमें आल्हा का वह स्वरूप कायम नहीं कर सका। उसमें कई तरह की अशुद्धियाँ होती चली गई। बावजूद इसके इस काव्य की लोकप्रियता में किसी तरह की कोई कमी नहीं आई। उस रोज रामनगरिया मेले में भी मुझे आल्हा की किताबें ही सबसे अधिक दुकानों पर सजी दिखाई दीं।

आल्हा को मैं धरती से जुड़ा काव्य मानता हूँ...

स्वाधीनता संग्राम के दौर में आल्हा की तर्ज पर लिखे गए क्रांतिकारी गीतों ने जनता को साम्राज्यवाद के विरोध में खड़े होने के लिए खूब प्रेरित किया। चीन और पाकिस्तान से युद्धों के समय भी आल्हा गायकों ने अपनी रचनाओं से जनमानस में अभूतपूर्व उत्साह का संचार किया। फर्रूखाबाद जनपद में आल्हा की लोकप्रियता का अनुमान इसी से लगाया जा सकता है कि आल्हा के एक लेखक शैदा जी यहीं के थे। फर्रूखाबाद शहर के "शैदा बुक डिपो" की एक समय दूर-दूर तक ख्याति रही। आज के आल्हा-सम्राट लल्लू वाजपेयी (उन्नाव) आल्हा को मूल रूप से महोबा और कन्नौज की देन बताते हैं। वाजपेयी का मानना है कि इस काव्य कथा के माध्यम से समाज के प्रत्येक वर्ग से आसानी से जुड़ा जा सकता है। वे वीर रस की इस रचना को भारतीय संस्कृति का प्रतीक कहते हैं। यहाँ के रामनगरिया के मेले में उनका आल्हा गायन सुनने के लिए लोग खूब इकट्ठे होते हैं। 'ऊदल का जन्म' या 'माड़ौ की लड़ाई' के श्रोता पगलाए रहते हैं। पांडाल खचाखच भरा रहता है। फर्रूखाबाद में आल्हा की लोकप्रियता को लल्लू बखूबी समझते हैं। यद्यपि वे पूरे देश भर में व्यावसायिक ढंग से आल्हा का गायन वर्षो से कर रहे हैं।

50 से 80 के दशक के बीच आल्हा गायकी के चर्चित कलाकारों में ठाकुरदीन, सत्यनारायण सिंह, अयोध्या सिंह, महमूद चचा, लल्ला सिंह, बचऊ सिंह, मास्टर कलदार सिंह, मैकूलाल, अवधपाल यादव, ब्रजमोहन द्विवेदी, मास्टर रामानंद आदि नाम लिए जा सकते हैं। आल्हा गायकी के लिए पूरी तरह समर्पित इन कलाकारों की लोकप्रियता दूर-दूर तक रही। पूरी-पूरी रात अकेले आल्हा गाने और श्रोताओं को बांधे रखने में इन्हें महारत हासिल थी। आल्हा की पूरी बावन लड़ाइयाँ इन्हें जुबानी याद रहती थीं और युद्ध या श्रृंगार का वर्णन करते हुए इनके हाव-भाव देखने लायक होते थे।

समय के साथ-साथ आल्हा की अनेक शैलियाँ प्रचलन में आ गई। 50 के आसपास रायबरेली जनपद में दो आल्हा शैलियाँ थीं। एक श्रीकृष्ण पहलवान (पदमश्री) की और दूसरी चन्द्रभाल मिश्र की। दूसरी शैली में शैदा जी की श्रृंगारिक कुंडलियों का विशेष योगदान होता था।

पिछले कुछ वर्षो में जवाबी आल्हा गायन की परम्परा का भी विकास हुआ है। दो मंडलियाँ आमने-सामने मंचों पर बैठकर आल्हा गातीं और उनमें श्रेष्ठ का चयन कथ्य, शैली, संगीत आदि के आधार पर किया जाता। इन प्रतियोगिताओं में आल्हा के गायकों को इनाम भी मिलने लगे।

आल्हा गायन को प्रभावशाली बनाने के लिए वेशभूषा और अभिनय कला का भी इस्तेमाल किया जाने लगा। वाद्य यंत्रों के प्रयोग के साथ ही पहनावे में चूड़ीदार पाजामे, कुर्ता, सदरी, साफे और तलवार व ढाल हाथ में लेकर वीर रस के इस काव्य को श्रोताओं के लिए और अधिक आकर्षक बनाया जाने लगा।

इधर टीवी और ऑडियो-वीडियो के दबाव ने इस समृद्ध लोक गायकी को प्रभावित किया है और उसके सामने गुमनामी के अंधेरे में लुप्त हो जाने के खतरे आ खड़े हुए हैं। यह अत्यन्त पीड़ादायक है कि नई पीढ़ी आल्हा को पिछड़े हुए लोगों की गायकी मानने लगी है।

ताबां से मिला हूँ आकर तो उनकी कब्र पर

रामकृष्ण राजपूत से मैंने कहा कि गुलाम रब्बानी ताबां साहब के जनाजे में मैं शामिल नहीं हो सका था। मैं उसी रोज फतेहगढ़ आया था। अब पितौरा में उनकी कब्र पर पहुंचकर उन्हें सलाम करना चाहता हूँ। बोले वे-कल जीप लेकर सवेरे ही आपके पास आ जाऊंगा।

फर्रूखाबाद से कायमगंज कस्बे की 40 किमी की दूरी। उसी से सटा ताबां का पितौरा गाँव। पता लगा कि कर्नाटक के राज्यपाल खुर्शीद आलम खां भी अभी भी पितौरा पहुंच रहे हैं। वे ताबां साहब के भाई हैं।

जीप तेजी से दौड़ रही है। राजपूत जी कहते हैं- ताबां साहब पर 'प्रज्ञा' के लिए एक लेख लिख दीजिए। उनकी बात सुनकर भी मैं कोई उत्तर नहीं दे पाता। मेरी आँखें रास्ते के दोनों ओर तम्बाकू, गन्ना और सूरजमुखी के खेतों पर टिकी हैं। आम के बगीचे ऐसे कि उन्हें देखकर मलिहाबाद की याद आ जाए।

डॉ. जाकिर हुसैन मार्ग से निकलकर जब हम तहसील भवन के निकट पहुंचे तो राजपूत जी ने बताया कि ताबां साहब का गाँव कस्बे के बाहर सड़क के दूसरी ओर है। हम पहले उनके घर ही पहुंच गए। ताबां साहब के बेटे इजहार आलम खां (पूर्व विधायक) से भेंट हुई तो मैंने कहा-मैं पूर्व विधायक से नहीं, ताबां साहब के बेटे से मिलने आया हूँ....

ताबां साहब से पहली बार 1986 के लखनऊ में आयोजित प्रगतिशील लेखक संघ की 50वीं सालगिरह के मौके पर मिला था। लंबा खूबसूरत बदन, आँखों पर काला चश्मा। अपने सधे हुए कदमों से जब वे रवीन्द्रालय के बड़े मंच पर माइक के सामने खड़े हुए तो हॉल में देर तक तालियाँ बजी थीं। फिर उनकी असरदार तकरीर हुई तो लोग उनके दीवाने हो गए। अगले दिन उन्हें प्रलेस का राष्ट्रीय अध्यक्ष चुन लिया गया। उसके बाद वक्त ऐसा गुजरा कि कई बार दिल्ली पहुंच कर भी ताबां साहब से भेंट नहीं हो पाई। 1992 में जब एक जलसे में

स्वर्गीय शंकर शैलेन्द्र का मशहूर गीत 'भगत सिंह से' गाने पर हिंदू सम्प्रदायवादियों ने मुझे तरह-तरह की धमकियां दीं तो दिल्ली के साहित्यकारों और संस्कृतिकर्मियों ने इस लड़ाई के पक्ष में खड़े होकर, जो बयान जारी किया, उस पर ताबां साहब ने भी दस्तखत किए थे।

यह सब एक झटके से मुझे आज उस ड्योढ़ी पर बैठते हुए याद आ गया, जहाँ ताबां साहब ने अपनी जिंदगी के कई बरस गुजारे थे। इसी पुश्तैनी मकान में उनकी कुर्सी और छड़ी रखी हुई है और यहाँ-वहाँ फैली हुई हैं। पैदाइश से लेकर लंबे वक्त तक की इस तरक्कीपसंद शायर की बेशुमार यादें। यानी बचपन में एक अंग्रेज कमिश्नर की आवभगत में गुस्से से भरकर चाय में एक मुट्ठी नमक डाल देना। फिर एक वह मुकाम भी आया जब उन्होंने अपने उसूलों की खातिर चुनाव में अपने भाई सुल्तान आलम खां को छोड़कर साम्यवादी नेता कामरेड सुन्दरलाल वर्मा का साथ दिया था। फतेहगढ़ कचहरी में कई साल वकालत करते-करते एक दिन किसान आंदोलन से ताबां साहब जुड़े और 1946 में कम्युनिस्ट नेता रामस्वरूप गुप्ता के साथ खिमसेपुर गाँव में पकड़े जाकर जेल चले गए।

शायरी उनकी हर कदम पर परवान चढ़ती रही। उनके कलाम के एक मजमुए का नाम है 'जौक-ए-दिल' अर्थात जीवन-यात्रा का तरीका और सलीका। 'साल-ए-लर्जा', 'हदीस-ए-दिल' तथा 'नवा-ए-आवारा' में उनकी शायरी का खूबसूरत अंदाज और जिंदगी का भरपूर अनुभव है। उन्होंने शायरी की कई किताबें संपादित भी कीं। पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस से उनकी अंग्रेजी निबंधों की भी एक पुस्तक 'पोइटक्स टु पॉलिटिक्स' छपी जो अत्यधिक चर्चित हुई। ऑल इंडिया रेडियो से प्रसारित उनकी वार्ताएं 'हवा के दोस पर' में संकलित हैं। 'नवा-ए-आवारा' को 1979 का साहित्य अकादेमी पुरस्कार मिला था। उन्हें सोवियत लैण्ड नेहरू अवार्ड भी दिया गया और पदमश्री भी, लेकिन अलीगढ़ में हुए हिंदू-मुस्लिम दंगों में सरकार के रवैये के विरोध में उन्होंने अपनी यह उपाधि लौटा दी। उनकी एक पुस्तक 'शिकस्ते जिंदा' जब्त हुई थी। कई शायरों की चीजें थीं उसमें। चीन में युद्ध के वक्त उन्होंने एक शोर में साम्यवाद पर इस तरह कहा था-तू चीन में आया है, इधर से भी गुजर जा।

इसी शोर्र पर किताब जब्त हुई थी। उस जमाने में जेल में नहीं डाला था। तब चाइना ने कहा था-प्रोग्रेसिव राइटर्स पर जुल्म हो रहा है।

इजहार आलम खां करीब डेढ़ घंटे तक मेरे सामने ताबां साहब के जिंदगीनामा को पेश करते रहे, जो भी वह जानते थे या जिसे उन्होंने अपनी

आँखों से देखा था- वे दिल्ली में किराए पर 25 रूपए में 30 साल तक रहे। मकान मालिक ने खाली करने को कहा तो कहने लगे-दो महीने और रहने दें। आपकी शराफत कि इतने कम किराए पर रहने दिया।.... वे एक कमरे में बिना बिजली के रहे। मकान खाली कर दिया। बोले –अपने को शरीफ कहना आसान है, उस पर अमल करना कठिन।

इजहार आलम खां बोलते जा रहे थे-गोहत्या के जमाने में विनोबा के नाम ताबां ने एक खुला पत्र लिखा था- गाय जानवर है। उसकी हत्या पर आंदोलन चला रहे हैं। ठीक है कि धार्मिक भावनाएं जुड़ी हैं, पर हिंदुस्तान में आदमियों के कत्ल पर आप क्यों नहीं कहते। विनोबा जी ने कहा था-आश्रम पर आकर बात करें।....कश्मीर पर लिखा उन्होंने तो कश्मीरी उग्रवादियों ने धमकी दी। टेलीफोन पर कह दिया उनसे-मेरी कलम बंद नहीं होगी।

आखिरी वक्त जब ताबां साहब बिस्तर पर थे तो डॉक्टर से बोले-कोई ऐसी दवा दो जो मुझे लिखने की ताकत दे सके। मेरी आखिरी ख्वाहिश है कि इस वक्त हिंदुस्तान की जो हालत है उस पर एक आर्टिकल लिखूं। फिर रूककर कहा-फिरकापरस्ती के खिलाफ जंग-ये तारीखी लड़ाई है जिसमें मैं हिस्सा बंटाना चाहता हूँ। यह कह कर उन्होंने पेन और कागज रखवा लिया, लेकिन लिख नहीं पाए वे। इजहार आलम जी बोले-मुझसे उन्हीं दिनों कहा था उन्होंने कि फर्रूखाबाद जाओ तुम। सदभावना की मीटिगें करो। बताओ लोगों को...। मैंने उनका कहा माना। लौटकर उन्हें बताया तो कहने लगे कि यह तुमने बहुत अच्छा काम किया।

मुझे याद है कि 6 दिसम्बर के हादसे से ताबां साहब को बहुत धक्का लगा था। फिर भी वे जानते थे कि मुल्क इस चोट को बर्दाश्त कर लेगा और उबरेगा। अपने इसी भरोसे को वे जिंदगी की शाम तक दिल के किसी कोने में महफूज रखे रहे।

दिल्ली में उन्हें आखिरी सांस आई लेकिन वे दफन हुए अपनी गाँव पितौरा के खानदानी कब्रिस्तान में। कच्ची-पक्की अनेक कब्रों के बीच से गुजर कर जब हम एक जगह रूके तो बताया गया-यह जो पक्की कब्र है न, हबीबा ताबां की है- उनकी बेगम। और बगल में इस कच्ची कब्र में वही अजीम शायर सोया पड़ा है, जिसने अपनी जिंदगी में ही कहा था- रह गुजर हो या मुसाफिर नींद जिसको आए है/गर्द की मैली-सी चादर ओढ़कर सो जाए है।

मैं ट्यूबवेल के इर्द-गिर्द उगे पौधों से दो फूल तोड़कर ताबां साहब और उनकी बेगम की कब्र पर चढ़ा देता हूँ। कोई कहता है मुझसे-ताबां साहब का कहना था कि उनकी कब्र कच्ची ही रहे और उस पर हरी घास उगाई जाए।

ताबां साहब से कभी मैंने फुर्सत से मिलने की ख्वाहिश की थी लेकिन आज मिला हूँ आकर तो उनकी कब्र पर।... 'आज ताबां दिले महरूम याद आया, बाद मुद्दत जब उस राह गुजर से गुजरे।'

डॉ. राजपूत और जीप चालक के साथ मैं ताबां साहब को 'लाल सलाम' कह कर चल पड़ा, लेकिन रास्ते भर मुझे उनके कुछ शोर्र बेतरह याद आते रहे- ताबां शराबखाने में कुछ रोशनी तो है, मस्जिद भी सो गई शिवाला भी सो गया।

हम भी मस्जिद के इरादे से चले थे लेकिन, रास्ते में मयकदे हायल से जिधर से गुजरे।

फर्रूखाबाद में ताबां साहब का बड़ा स्मारक बनना चाहिए। इजहार आलम खां साहब ने मुझे बताया कि 'किताबनुमा' का ताबां नंबर निकल रहा है। आज ही कमर रईस साहब को पत्र लिखूंगा.....

गंगा की नई और पुरानी लहरों के बीच खड़ा मैं

कार्तिक पूर्णिमा फिर आ गई। इस बार बेटी अपर्णा और छोटे बेटे ने गंगा के मेले चलने की जिद की। मेरा नास्तिक मन आस्थाओं और कर्मकांडों में विश्वास नहीं करता। मुझे याद है कि बहुत छुटपन में मैं एक बार पिता के साथ गंगा स्नान के लिए गया था। गाँव के किनारे चाँदी-से चमकते रेत में बैलगाड़ियाँ इधर-उधर खड़ी करके चादरें तान ली गई। नीचे तैयार हो गई ठहरने की जगह। फिर धूप और कपूर से गंगा जी की आरती उतारी गई। असंख्य जगमगाते दीये गंगा की लहरों में तैरने लगे। अगली सुबह मुँह अंधेरे 'गंगा मइयां की जय' के स्वरों के साथ लोग स्नान के लिए उमड़ पड़े। हम बच्चों को सूरज उगने के बाद नहलाया गया। जल इतना स्वच्छ कि नीचे पानी के भीतर झिलमिलाते रेत कणों को गिन सको तो गिन लो.... लेकिन आज गंगा के तट पर बेटी ठिठकी हुई खड़ी मुझसे कह रही है-पापा, इतने गंदे पानी में लोग कैसे नहा रहे हैं। हम सिर्फ नाव में बैठेंगे।

हमने देखा कि गंगा का जल सचमुच बहुत प्रदूषित हो चुका है। उसकी निर्मलता जाने कहाँ खो गई है। फिर भी आस्थावान लोग मोक्षदायिनी के समीप खड़े होकर उसके प्रति अपनी श्रद्धा और भक्ति को तरह-तरह से व्यक्त कर रहे हैं। विद्यापति ने जिस गंगा के बारे में लिखा था- 'कत सुख पार पाओल तोर तीरे', उसका पानी आज इतना गंदला हो गया है कि लोग उसका आचमन करते डरते हैं, उसमें स्नान करने में उन्हें पहले जैसी पावनता की अनुभूति नहीं होती। फिर भी हम देख रहे हैं कि असंख्य नर-नारी कितने विनत भाव से प्रदूषित हो चुके गंगा जल का स्पर्श कर रहे हैं क्योंकि यह नदी उनकी जीवनधारा में इस प्रकार

घुली-मिली है कि वह गंदी होकर भी उनसे अलग नहीं हो सकती। लेकिन मेरा उद्देश्य यहाँ यह बताना नहीं है कि गंगा अब दुनिया की सबसे अधिक प्रदूषित नदी बन चुकी है, कि उसके बहाव की गति और गहराई कम होती जा रही है और एक आस्थाशील समाज उसकी इस स्थिति को देखते हुए खामोश क्यों है।

प्रो. रंजन, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा

सितम्बर महीने का पहला सप्ताह बीत चुका है। बरसात थम गई है। दोपहर का वक्त है। हम दीवानी अदालत के बड़े चबूतरे पर बैठे साथी मो. अलीम खां और राजीव वाजपेयी से कर्मचारी संगठनों की छीजती स्थितियों पर चर्चा कर रहे हैं। उसी समय 40 के आसपास की एक भद्र महिला और उनके साथ एक बुजुर्ग सज्जन मेरे नजदीक आकर खड़े हो गए। आप क्या जानना चाहती हैं-मैंने पूछा।

मेरे पिता स्वतंत्रता संग्राम सेनानी थे। उन्हें यहाँ से सजा हुई। जेल भी गए। उन्हीं के संबंध में जानकारी करने मैं कानपुर के पाण्डुनगर से आई हूँ। क्या नाम था उनका- मैंने पूछा।

श्री रघुराज सिंह। मैं उनकी पुत्री हूँ पूर्णिमा सिंह। वहीं से आई हूँ आज। और हमारे साथ हैं स्वतंत्रता सैनानी श्री मुन्नालाल दीक्षित।

मैं उन्हें दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम करता हूँ।

पूर्णिमा जी को लेकर मैं एडीएम के न्यायालय कक्ष में गया। वहाँ कानपुर मंडल के स्वतंत्रता संग्राम के सैनिकों की सूची में फर्रूखाबाद जिले में रघुराज सिंह जी का नाम था। मैंने उन्हें जरूरी सूचनाएँ निकाल कर दीं।

यहाँ कोई नहीं जानता कि ये वही रघुराज सिंह हैं जो बाद को प्रो. रघुराज सिंह 'रंजन' के नाम से विख्यात हुए। जन्म उनका इस जिले के रैसेपुर गाँव में 27 दिसम्बर 1916 को हुआ था। वहीं पले-बढ़े और फिर गवर्नमेंट हाई स्कूल फर्रूखाबाद से उन्होंने मैट्रिक किया। भारतीय राजनीति में वे बहुत उथल-पुथल भरे दिन थे। स्वतंत्रता आंदोलन की दोनों धाराएँ देश के नौजवानों को अपने-अपने ढंग से प्रभावित कर रही थीं। रघुराज सिंह ने उन्हीं दिनों गांधी के सत्याग्रह से जुड़कर कानून तोड़ा और जेल चले गए। सीखचों के भीतर की जिंदगी ने देश सेवा के उनके संकल्प को और मजबूत किया। जमींदार परिवार के थे सो उनके जीवन के इस ढंग से घर-बाहर के लोगों को आश्चर्य हो रहा था।

एक बार वे बुखार में पड़ गए। किसी ने ताना कसा-कांग्रेस से सहायता क्यों नहीं लेते। बात चुभ गई। इसके बाद जो स्वस्थ हुए तो फिर घर से कोई वास्ता न रखा। जिस रास्ते पर चल पड़े वहाँ से पीछे मुड़कर देखा नहीं कभी...

काशी विद्यापीठ में रहे थोड़े दिन। सन् 1933 में कानपुर केन्द्र से इंटर कर लिया। फिर 1936 में वही सनातन धर्म कालेज से बीए। तीन वर्षो तक प्रताप हाई स्कूल में प्रधानाध्यापक रह कर उन्होंने इतिहास में एमए और साहित्यरत्न की परीक्षाएँ दे डालीं।

स्वभाव से घुमक्कड़ थे इसलिए कानपुर टिके नहीं। वर्धा चले गए और वहाँ से वनस्थली विद्यापीठ। इस तरह के जीवन में ठहराव कहाँ। एक जगह बंधकर रहना उन्हें अच्छा भी नहीं लगता था।

देखते-देखते 1942 का आंदोलन आ गया। देश की जनता गांधी के 'करो या मरो' के नारे पर पागल हो उठी। पर इस बार स्वतंत्रता का जो बिगुल बजा उसमें गांधीवादी और क्रांतिकारी शक्तियाँ एक हो गईं। अभियान आंधी बन गया। रघुराज सिंह इसमें खूब काम करते रहे। भूमिगत रह कर उन्होंने आंदोलन को बहुत मदद की। वे पकड़े गए लेकिन कोई जुर्म साबित नहीं हुआ। सरकार ने फिर भी उन्हें नजरबंद रखा। तिलमिला उठे वे। 1944 में अजमेर जेल से निकल भागे और 16 महीने तक सरकार की आँखों में धूल झोंक कर फरार बने रहे। वे इलाहाबाद आए, फिर ओरछा राज्य के कुंडेश्वर में जाकर रहने लगे। यहाँ से 'मधुकर' निकलता था उन दिनों जिसमें वे यशपाल जैन आदि के साथ कई महीने काम करते रहे। अब वे रघुराज सिंह नहीं, प्रो. रंजन हो गए थे।

कैसा जुनून था देश के काम के प्रति उनके भीतर। अध्ययन की प्रवृति ने फरारी के दिनों में भी उन्हें चुप नहीं बैठने दिया। 1945 में नागपुर विश्वविद्यालय से उन्होंने एम.ए. हिंदी की परीक्षा उत्तीर्ण की। इसके बाद ही जब वे राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का काम करने वर्धा गए तो वहाँ पकड़ लिए गए। हुआ यह कि वे विश्वविद्यालय में जमा किए हुए अपने रूपये वापस मांगने पहुंचे जहाँ उनका पता लिखा हुआ था- रघुराज सिंह, द्वारा प्रो. रंजन राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा। पुलिस को संदेह हुआ और उन्हें वर्धा जाकर गिरफ्तार कर लिया गया। इस तरह वे फिर अजमेर जेल के भीतर पहुंच गए।

उन्हें एक साल की कैद हुई थी, लेकिन प्रांतों में कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनने पर वे कुछ समय बाद रिहा हो गए। चुप बैठना तो सीखा नहीं था उन्होंने। वर्धा पहुंचकर फिर राष्ट्रभाषा प्रचार समिति का काम हाथ में ले लिया। सारा देश घूमे। जहाँ-जहाँ समिति की शाखाएं नहीं थीं, वहाँ शुरू कराई। समिति के भवन निर्माण के लिए तो उन्होंने अथक परिश्रम किया।

लेखक भी वे गजब के थे। आज कौन जाने कि हिंदी का जो भव्य महल खड़ा हुआ है, उसकी नींव में कैसे-कैसे गुमनाम व्यक्तियों ने अपने लहू का ईंट-

गारा लगाया था। 'उदय' का संपादन भी वे करते रहे। 'कल्पना' मासिक भी शुरू की और कुछ पुस्तकें चेतना प्रकाशन से छपीं। वे एक विद्यालय के छात्रों को थोड़े समय तक इतिहास और नागरिक शास्त्र भी पढ़ाते रहे। नया कुछ करने की ललक उन्हें एक बार खेती के कार्य की ओर भी खींच ले गई। शायद 1952 के आसपास ग्वालियर के निकट श्योपुर में सहकारिता के आधार पर उन्होंने खेती करायी। इन्हीं दिनों वे कुछ अस्वस्थ हुए। डॉक्टर ने परिश्रम करने से मना किया तो हैदराबाद लौटकर उन्होंने अग्रवाल विद्यालय में प्रधानाध्यापक का कार्य संभाल लिया। कहा जाता है कि उनके दो वर्ष के कार्यकाल में इस विद्यालय ने अदभुत प्रगति की। एक दिन उन्होंने विद्यालय में विद्यार्थियों का 'स्वायत्त शासन दिवस' मनाया। इस मायने में उस दिन विद्यालय की सारी व्यवस्था विद्यार्थियों के हाथों में थी। वे ही अध्यापक और वे ही कर्मचारी। था न विलक्षण प्रयोग। शिक्षा संस्थाओं में रघुराज सिंह के इस प्रयोग को कोई आगे नहीं बढ़ा सका, जबकि स्वतंत्र भारत की शिक्षा संस्थाओं में इस तरह की चीजों का विकास होता तो आज जो माहौल हमारे कालेजों और विश्वविद्यालयों में दिखाई दे रहा है, वह न होता।

मुझे सही तो पता नहीं, पर शायद 1956 की किसी तारीख को जब वे एक शिक्षा कांफ्रेन्स से पटना लौटे थे, उन्हें पक्षाघात हुआ और तीसरे दिन उनके मुसलसल सफरनामे पर विराम लग गया। अंतिम क्षणों तक सक्रिय रहकर उन्होंने जीवन को चलते रहने का पर्याय बना दिया। अपनी किशोरावस्था में वे घर से चले थे तो फिर रास्ते में किसी मुकाम पर वे ठहरे नहीं। न थके, न हार मानी। देश ही नहीं, विदेशों की भी यात्रा की। उनके पैरों में जैसे पंख लगे थे। उड़ना, और ज्यादा उड़ना। उनकी उड़ान ऊंची थी, लेकिन देखते वे जमीन पर थे। अपनी धरती से बेहद प्यार था उन्हें। चाहते थे कि यहाँ बसने-रहने वाला कोई भूखा-नंगा, कमजोर और असहाय न रहे। यही उनके चिंतन और जीवन का ध्येय था और इसी के लिए उन्होंने अपना सर्वस्व अर्पित कर दिया। वे स्वप्नजीवी तो थे ही, कर्मवीर भी थे। जीवन को उन्होंने सदैव एक प्रयोगशाला माना।

बनारसीदास चतुर्वेदी की भूली हुई याद

फर्रूखाबाद के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल को देखने आया हूँ। इसी विद्यालय में पं. बनारसी दास चतुर्वेदी जुलाई 1913 में सहायक अध्यापक नियुक्त हुए थे। वेतन था तीस रूपए मासिक। दादा चतुर्वेदी जी अपने इस संक्षिप्त अध्यापक जीवन को बहुत शिद्दत से याद करते थे। 1972 में मैं श्रद्धेय चतुर्वेदी जी के संपर्क में आया था जब आगरा के 'युवक' मासिक पत्र ने 'स्वतंत्रता संग्राम योद्धांक' उनके

संपादन में प्रकाशित किया जिसमें देश के शहीदों और क्रांतिकारियों पर सामग्री थी। उसे पढ़कर मेरे जीवन की दिशा ही बदल गई। मैं मुक्ति-युद्ध के उन योद्धाओं की कीर्ति-रक्षा के मिशन में जा लगा जो सशस्त्र क्रांति के मार्ग के अनुयायी थे। चतुर्वेदी जी से मेरा पत्र-व्यवहार शुरू हो गया था। मैं उनसे मिलने अनेक बार फीरोजाबाद गया इसी फर्रूखाबाद के रास्ते से। तब वे मेरे 'गुरूवर' बन गए और मैं उनका 'प्रिय विद्यार्थी'। दादा चतुर्वेदी जी का निधन हुआ तो भी मैं दौड़ता-दौड़ता पहुंचा था फीरोजाबाद। लेकिन फिर जैसे मेरे लिए उस ओर के दरवाजे बंद ही हो गए।

यहाँ आया तो दादा चतुर्वेदी जी की याद आई। उनके अध्यापक जीवन की कथा मुझे बार-बार कुरेदती रही। उन दिनों फर्रूखाबाद के गवर्नमेन्ट हाई स्कूल में हेड मास्टर थे हरिकेशव सान्याल। वे प्रसिद्ध क्रांतिकारी शचीन्द्र नाथ सान्याल और भूपेन्द्र नाथ सान्याल के चाचा थे। चतुर्वेदी जी को उनका यह रिश्ता बहुत बाद को पता चला। हरिकेशव जी अनुशासन के मामले में बहुत कठोर थे। शिक्षा के मामले में उनका अपना नजरिया था। उनका मानना था कि सबसे छोटे दर्जे के विद्यार्थियों को सर्वश्रेष्ठ शिक्षकों के सुपुर्द किया जाना चाहिए, भले ही उच्च कक्षाओं के छात्र मामूली योग्यता के अध्यापकों के अधीन पढ़ते हों। चतुर्वेदी जी को यहाँ लीविंग या मैट्रिक के छात्रों को अंग्रेजी पढ़ानी पड़ी। वे स्वयं इंटर पास थे। उन्हें यह कार्य कठिन लगा। वे शब्दार्थो के लिए किताबों के पन्ने पलटते और फिर कक्षा में जाते। उन दिनों की स्मृतियों को ताजा करते हुए वे स्वयं कहते थे-अंग्रेजी कोश की मदद से भला स्कॉट की 'आइजन हो' कैसे पढ़ाई जा सकती थी। कभी-कभी तो ऐसा होता कि जिस वाक्य का अर्थ मेरी समझ में न आता, उसे मेरा कोई विद्यार्थी समझ लेता। जिस दिन मुझ पर यह जिम्मेदारी पड़ी थी, मैंने एक होशियारी से काम लिया। अपने विद्यार्थियों से मैंने विनम्रतापूर्वक कहा-मैं तो अभी-अभी एफए पास करके आया हूँ, फिर आप मुझसे कैसे उम्मीद रख सकते हैं कि मैं नवें तथा दसवें दर्जे को सफलतापूर्वक अंग्रेजी पढ़ा सकूंगा। इस संकट को पार करने का सिर्फ एक ही तरीका है, वह यह कि हम लोग-यानी आप, और मैं घर पर कोश की मदद से कुछ पढ़कर आया करें फिर क्लास में मिलकर साथ-साथ पढ़ाई की जा सकेगी। आप मेरी गलतियों का बखूबी मजाक उड़ा सकते हैं। मैं बुरा न मानूंगा। अंग्रेजी हमारी मातृभाषा तो है नहीं।

चतुर्वेदी जी बताते थे कि उनके पास अंग्रेजी का जो कोश था वह सस्ता-सा सवा रूपया वाला ही था और उसमें कितने ही मुहावरे मिलते ही न थे। एक मुहावरा 'डेड एज ए डोर नेल' आया, जिसका अर्थ उन्हें अपने कोश में नहीं मिला।

उनके किसी साधन-सम्पन्न शिष्य के पास बढ़िया डिक्शनरी थी। उसने उस मुहावरे का अर्थ बता दिया। चतुर्वेदी जी ने उसे धन्यवाद देते हुए कहा-दो वर्ष बाद आप लोग भी मेरे बराबर पढ़ जाएंगे। हम लोग सहपाठी ही हैं। अपनी अयोग्यता को स्वीकार कर लेने का लाभ यह हुआ कि उन्हें अपने छात्रों की सहानुभूति प्राप्त हो गई और उनका कभी कक्षा में मजाक नहीं उड़ाया गया।

हेड मास्टर सान्याल जी कहीं और चले गए स्थानांतरित होकर। उनकी जगह आए मुहम्मद एजाज आलम। बदायूं के थे। उन्हीं दिनों की बात है इन्स्पेक्टर ऑफ स्कूल मि. डाबसन विद्यालय में निरीक्षण के लिए आए। वह आगरा में चतुर्वेदी जी के हेड मास्टर और उनके 'चौबे बोर्डिंग हाउस' के अध्यक्ष रह चुके थे। चतुर्वेदी जी ने उन्हें अंग्रेजी पढ़ाने में हो रही दिक्कतों से अवगत कराया। नतीजा यह हुआ कि उन्हें नीचे दर्जो को अंग्रेजी तथा ऊंचे दर्जो को हिंदी पढ़ाने का काम मिल गया।

एजाज आलम जी को टेनिस खेलने का शौक हुआ तो चतुर्वेदी जी भी सवेरे उनके साथ खेलने लग जाते। पर थे दोनों नौसिखिए ही। जून 1914 में चतुर्वेदी जी ने पं. तोताराम सनाढ्य के लिए अपनी पहली पुस्तक 'फिजी द्वीप में मेरे 21 वर्ष' लिख डाली। इसमें तोताराम जी के ही संस्मरण थे। इस पुस्तक के कुछ अंश चतुर्वेदी जी ने अपने हेडमास्टर जी को सुना दिए। उन्होंने तोताराम जी से उनकी मुलाकात भी करा दी। चतुर्वेदी जी के लेख 'आर्यमित्र', 'भारत सुदशा प्रवर्तक', 'नवजीवन' और 'मर्यादा' जैसी पत्रिकाओं में छपने लगे थे। इससे हेडमास्टर साहब पर गहरा प्रभाव पड़ा और वे उन्हें हिंदी का बड़ा विद्वान मानने लगे।

वे फर्रूखाबाद में ही थे कि तभी द्वारिका प्रसाद सेवक जी ने 'नवजीवन' मासिक पत्र के लिए चतुर्वेदी जी के गुरू पं. लक्ष्मीधर वाजपेयी को बुलाने का प्रस्ताव रखा पर वे 'आर्यमित्र' को तभी छोड़ सकते थे जब कोई दूसरा आदमी उन्हें अपनी जगह काम करने के लिए मिल जाए। वाजपेयी जी को सूझा कि क्यों न बनारसीदास को वहाँ बुला लिया जाए। उनसे आगरा आने को कहा उन्होंने। यह तय हुआ कि चतुर्वेदी जी महीने भर की छुट्टी लेकर आगरा आकर 'आर्यमित्र' संभालें और सरकारी नौकरी से इस्तीफा दे दें। उन्होंने छुट्टी की अर्जी भेज दी। जिस दिन वह स्वीकार हुई उसी रोज डेली कालेज इन्दौर में हिंदी अध्यापक की नियुक्ति का आदेश उन्हें मिल गया।

पर उनके इन्दौर कालेज को अर्जी भेजने का भी एक दिलचस्प प्रसंग है। फर्रूखाबाद के गवर्नमेंट कालेज में स्पेशल क्लास को वे अंग्रेजी पढ़ा रहे थे कि हेड

मास्टर ने उन्हें बुलाया। कहा-देखिए, हिंदी शिक्षक की एक मांग निकली है। ग्रेड अच्छा है, यानी 80-120 की। मेरी सलाह है कि आप अर्जी भेज दें। चतुर्वेदी जी बोले-यह ग्रेड तो करीब तिगुनी तनख्वाह का है, मुझे मिलने से रही। अर्जी भेजना बेकार होगा। हेड मास्टर ने कहा-अर्जी भेजने में हर्ज ही क्या है। कोशिश तो करनी ही चाहिए। इस पर चतुर्वेदी जी ने कहा- मैं इस वक्त क्लास ले रहा हूँ और एक खास निब से लिखता हूँ-मिचिल जी-और वह इस वक्त मेरे पास है नहीं। हेड मास्टर कुछ खिन्न हो गए। आदेश के लहजे में बोले-आप भी अजीब आदमी हैं क्लास डिसमिस कीजिए और बाजार जाकर अपना निब खरीद लाइए। अर्जी आज ही रवाना हो जानी चाहिए। अब चतुर्वेदी जी कहते तो क्या। हुक्म मानकर उन्होंने क्लास छोड़ा और बाजार चले गए। अपनी पसंद की निब लाकर खूबसूरत अक्षरों में अच्छे कागज पर प्रार्थनापत्र लिखा। बाद में उन्होंने देखा कि हेड मास्टर ने उस पर उनके लिए बड़ी जोरदार सिफारिश लिखी है। चतुर्वेदी जी बताते थे कि उन्होंने अपने प्रार्थनापत्र में लिख दिया था कि वर्नाकुलर फाइनल की परीक्षा फर्स्ट डिवीजन में पास की है। डेली कालेज के प्रिंसिपल ने जो ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी से पधारे थे, शायद यह ख्याल किया कि वह हिंदी की सर्वोच्च परीक्षा होती होगी। प्रार्थनापत्र भेज कर मैं निश्चित हो गया। उसके स्वीकार होने की कोई संभावना तो थी नहीं। मैं आगरे पहुंचकर संपादक बनने की सोच रहा था कि अकस्मात इंदौर पहुंचने का हुक्म आ गया।

फर्रूखाबाद में ही एक और घटना चतुर्वेदी जी के साथ हुई। एक पुस्तकालय में बैठे हुए थे वे तो वहाँ उन्हें 'माडर्न रिव्यू' का मार्च 1914 का अंक देखने को मिला। उसमें सीएफ एण्ड्रूज का एक लेख छपा था जो उन्होंने दक्षिण अफ्रीका पहुंचने पर गांधी जी के प्रथम दर्शन में ही उनके चरण स्पर्श करने के बारे में लिखा था। चतुर्वेदी जी एक अंग्रेज द्वारा ऐसा करने पर बहुत प्रभावित हुए और उन्होंने यह बात एक वयोवृद्ध सज्जन को सुनाते हुए कहा- निस्संदेह यह अंग्रेज एक महापुरूष प्रतीत होता है, नहीं तो यह गांधी जी के चरण स्पर्श करके गोरे लोगों का कोपभाजन क्यों बनता। चतुर्वेदी जी एण्ड्रूज के संपर्क में आए। बाद को उन्होंने एण्ड्रूज को 'दीनबंधु' और उन पर एक लेख भी लिखा। एण्ड्रूज महोदय के साथ उनका एक चित्र मैं बार-बार देखता था....

श्रद्धेय चतुर्वेदी जी ने ही मुझे शहीदों और क्रांतिकारियों के मिशन में लगने की प्रेरणा दी थी। कर्मवीर पं. सुंदरलाल की कीर्ति-रक्षा के काम में तो उन्होंने मुझे बड़ा सहयोग किया। तब मेरे इस छोटे-से कार्य को सामने रखकर उन्होंने मुझ पर एक लेख लिखने का प्रस्ताव किया था।

तुम्हें बहादुर बीवी बनना है

प्रगट सिंह, सिक्ख रेजीमैंट

जब गांव के स्नातक मित्र सरकारी नौकरियां पाकर हेडमास्टर बनने के लिए ट्रेनिंग ले रहे थे, तब इन्होंने चुनौतियां भरे जीवन को चुनना ज्यादा ठीक समझा और परंपरागत किसानी परिवार की बंधी-बंधाई परिपाटी से अलग पेशा चुनते हुए फौज में भर्ती हो गए। साइकिल चलाना, कम बोलना और एक बोल्ड महिला का पति और अभी तलक प्रेमी। ट्यूबवेल व नहर के बहते पानी में नहाना इन्हें प्रिय है। फौज में भर्ती हो गए, खर्राटे लेते-लेते अक्सर सांस बंद हो जाती है। जटसिक्ख परिवार से होकर भी शारीरिक मेहनत से भागते हैं।

देवेन्द्र कौर के लिए

30 जनवरी 1983

रामगढ़ कैंट

खास समाचार तो यह है कि मेरा दांत खराब था न, ऊपर वाला उसे निकलवा दिया कोई भी तकलीफ नहीं बिल्कुल ठीक हूँ सिर्फ एक ही दर्द रहा था थोड़ा-थोड़ा, तुम्हारा पत्र मिल गया है लेकिन पत्रों में चार अक्षर ही होते हैं, थोड़ा बढ़ाने की कोशिश करो, कम अक्षर मत लिखा करो, और रही बात हिसाब की तो मेरे लिखने का कारण वह नहीं था जो तुम समझी थी, अच्छा छोड़ो गुड प्रशन सिंह से ले लेना, अच्छा तो यही होगा कि तुम अपना बनवा लेती। ठीक है जो भी हो गया है। तुम ज्यादा फिक्र न किया करो, फिक्र से तो कुछ भी हासिल नहीं होगा। इन हालातों का डटकर मुकाबला करना ही तो जिंदगी है। तुम पत्र जल्दी-जल्दी देती रहा करो, इतना इंतजार मैं कर नहीं पाऊंगा। सोचने की भी कोई हद होती है, और इंतजार की भी सीमा।

11 सितंबर 1982: जिंदगी को मैं पूरी तरह जीने की कोशिश कर रहा हूँ, तुम कोई चिंता नहीं करना एक तो हम जुदा दूसरा तन्हाई। पंडित से पता करना कि कितने दिन और हैं दु:खों के और ईश्वर जो भी करेगा अच्छा ही करेगा। तुम घबराना नहीं मेरे सारे पत्र संभाल कर रखना। अपनी कितनी मदद कर रहा है 'वाहेगुरू' अपने यह सारे राज किसी के सामने नहीं खोलना और यही कहना कि सर्विस में लग गया हूँ। मुझे पत्र का इंतजार मत करवाना, जालिम तुम्हारा तो दिल लग ही जाता होगा, आज बाईस दिन हो गए हैं बिछड़े हुए। तुम फसल की अच्छी तरह देखरेख करते रहना, कपास का सारा घास निकलवा लेना, और ज्वार

वाला खेत खाली होने पर बैल लेकर बुआई करवा लेना। यूनिवर्सिटी में मधुमक्खी पालने का बहुत बड़ा प्लान है एक महीने में 2000 रूपये का मुनाफा घर बैठे ही बिना मेहनत के हो जाता है।

21 मई 1983: अभी तुम्हें हौसले की जरूरत है। अपना दिल मजबूत रखना हम साहस के अलावा और क्या कर सकते हैं। धैर्य सबसे बड़ी चीज है लेकिन सहनशीलता की भी सीमा होती है। यह बहुत कठिन होता है। तुम लाल पेन से पत्र न लिखा करो, सिर्फ नीले या हरे से। दवाइयाँ भी यहाँ तक हो सके जरूर ले आना मेरे लिखे शब्दों को ज्यादा महसूस मत किया करो। तुम्हें, तो पता है हमारी आदत। जो बात दिल में आ जाता है, हम रोक नहीं पाते जब तक किसी से कह न दें या लिख न दें। इस जीवन के उतार-चढ़ाव ने बहुत कुछ बदलाव ला दिया है हालांकि यह खाने-पहनाने की उम्र है। दिल तो बहुत तड़फ रहा है मिलने के लिए, मगर मिल न सकूंगा। देने वाला भी कितना गम दे देता है कभी-कभी यह कभी सोचा नहीं था।

26 नवंबर 1982: हमने दिवाली बहुत ही अच्छी मनाई, मगर घर, घर ही होता है, बाहर की जिंदगी कुछ अलग किस्म की होती है। बच्चों की याद मुझे कभी भी नहीं भूलती, जब भी तुम लोगों का ख्याल आता है। अपना मन मसोसकर रह जाता हूँ। यही तो धूप छांव है तुम बच्चों के साथ अपना दिल लगाकर रखना। तुम्हारा सब कुछ तुम्हारे ही पास तो है। क्या हुआ अगर केवल मैं नहीं हूँ। लोगों की मुझे कतई परवाह नहीं है, मुझे किसी से कोई मतलब नहीं है। कपास देख लेना थोड़ा गांव में देकर आढ़त पर भेज देना। अब तुम्हें ही बहादुर बीवी बनना होगा। और मुझे बहादुर बीवी का पति।

24 जनवरी 1983: फसल कैसी है? गन्ने और कपास के बारे में पता देना और ज्वार बेच देना। मेरा तो यहाँ दिल नहीं लग रहा है, सारा दिन अंदर ही पड़े रहना, यह भी कोई जिंदगी है। बारिश खूब हो रही है, वीरेन्द्र की पढ़ाई के बारे में बताना उसको ट्यूशन लगवा देना। तुम अपने तरीके से सोचकर काम करना, जमीन ठेके पर दे देना। बैल भी यहाँ तक हो सके नकद ही बेच देना। यह साल शायद खुशियों भरा हो, ऐसा मुझे संदेश दे रहा है। कभी-कभी ऐसा लगता है कि तुम्हें पत्र लिख सकूं इसलिए यहाँ आया हूँ। हमें अपने बच्चों को वह सब देना है। जो हम खुद नहीं कर पाए जो सपने हम पूरे नहीं कर सके ईश्वर उन्हें पूरा करने का मौका हमारे बच्चों को जरूर देगा।

इकबाल-कृत गायत्री के उर्दू अनुवाद का हिंदी रूपान्तर

रूपान्तरकार- शमशेर बहादुर सिंह

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा स्थित स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय के सौजन्य से हम अपने पाठकों के लिए बहुवचन के हर अंक में शमशेर बहादुर सिंह की अप्रकाशित रचनाएं प्रकाशित करेंगे। इकबाल-कृत गायत्री के उर्दू अनुवाद का हिंदी रूपान्तर जिसे शमशेर बहादुर सिंह ने किया था, पहली बार पाठकों के लिए प्रस्तुत है:

सविते! विश्वप्राण तू ही है,
देश-काल तुझी से नियत हुए।
अस्ति-नास्ति का मूल तू ही है,
जीवन तुझी से हरा-भरा हुआ है।

तुझी से है यह सारी पंचभूत लीला,
प्रत्येक वस्तु तेरी ही टेक लिए
तेरी ही ज्योति में स्थित है।
तेरी ही तेजस्विता से जीवन में चेतना है।
और काल भी तुझी से प्रकाशित हुआ।

प्राणा, भावना, बुद्धि, प्रज्ञा सब तुझी से पैदा हुई।
देवि! हमें पूरा विवेक का प्रकाश दे!
हमारे ज्ञान चक्षुओं को ज्योति से पूर!
आस्तित्व मात्र की हे कारणभूत सत्ता!
परमदिव्य शक्ति, ऊर्ध्व कि अधर,
प्राणि-प्राणि में तेरा ही अभ्युदय है!

श्रेणियों-श्रेणियों तेरा ही अभ्युत्थान है, देवि!
तू ही प्रत्येक जड़ चेतन की पालिका
और देवताओं की परमेश्वरी शक्ति है।
तेरा प्रकाश अथ-इति-सीमा से,
सदा-सदा मुक्त है।

(बाँगे-दिरा: "आफ़ताब-तुर्जुमए-गायत्री)

ओम भारती की कविताएँ

दरवाजा बंद

बिल्लियाँ कुत्ते चोर और भिखारी
और योद्धा भी पहुँचे प्रवेशार्थी होकर
छोटे-बड़े दरवाजों के पास दी दस्तक

बंद दरवाजे का इस्तेमाल कारणवश
अनेक अवसरों पर
लक्ष्यों से करते हैं लोग
कम हैं लोग जो मान दें दरवाजे को
ज्यादातर तो पीटते हैं उसे
झल्लाकर बंद कर देते हैं जोर से
हवा की आदत में भी
है यही सलूक

मैं दरवाजा खुला रखने के लिये
टेका लगाता
कोई उसे रोज हटा देता है
और मुझे अपना ही मिलता है बंद

कोई उस बंद से झाँकता है हिचका सा
खटखटाता नहीं है
मुझे एक हिचकी दिलाती है होश
खोलो, अदने कवि, खोलो
कविता से मिलो अपने ही दरवाजे

मैं जागकर खुल जाता हूँ
उसे रास्ता देता हूँ, अवाक
उसके पीछे जैसे कोई दरवाजा
आहिस्ता होता है बंद।

तमाशा

लगकर कतार में हम भीतर हुए
जगह पकड़ बैठते गये थे
फिर बत्तियाँ बुझने लगीं
बुझीं कि एकदम अँधेरा घुप्प
सुन्न बटे सन्नाटा
मैं डरने-डरने को था
बुआ ने संभाला
डर मत, सिनेमा अब शुरू होने वाला है
देखना बहुत मजा आवेगा!

लड़कपन से बाहर आ, आज मैं देख रहा
देश है। लोग हैं। जमा हैं। बुआ तो नहीं रहीं
पर एक के बाद एक बुझते उजाले हैं
भयभीत हूँ मैं-क्या सारे बुझ जायेंगे,
क्या अंधेरा खा जायेगा सबको?

कोई नहीं जो भय से बचाये
और वे बढ़ाये जाते हैं दहशत
और हर कभी शुरू उनका सिनेमा
हर कभी तबाही.....हर तरफ, शत प्रतिशत
कि तमाम माध्यम अति-व्यस्त
टीआरपी बढ़ाने में मशगूल कथक्कड़
खूब मजा लेते वे फाफाकुटनी की तरह
एक की चार लगा
मजा लेते, मस्ताते

और उनकी तो कितनी मौज
अरे उन्हीं की जो भीड़ का हिस्सा नहीं
यहाँ नहीं
जो सिर्फ 'रील' घुमा रहे हैं।
और लोगों से 'रोल' करा रहे हैं।

मार्मिक

तीर से भिदी चिड़िया
गा रही है, सुनो
तकलीफ की कविता है मार्मिक
पंख धँसा तीर पड़पते दिल की तरफ
इशारा करता है, कोई तो देखे

ऐसा नहीं है कि पखेरू आ गया तीर के आगे
तीर ऐन निशाने पर मारा गया होगा
आजकल तो तीर चलन में हैं नहीं
चलानेवाले को पिता से मिला था
परखने को छोड़ दिया उसने प्राचीर से

उकसाया गया कोई
किसी से भिड़ जाता है
जैसे अमेरिका है तो समर
छिड़ ही जाता है
हताहत हैं लोग तो तड़प की गीतिकाएँ
किस तरह रोकेगे? गाई ही जायेंगी!

क्या फर्क पड़ता हैं मौत के हिज्जे में
वह प्रक्षेपास्त्र से हुई है या तीर से?
मैं तर्क नहीं, न ही द्रवित शब्द
और मेरा अनुवाद आसान नहीं

मैं तीर-विद्ध चिडिया के
डूबते हृदय से
टपकता हूँ, टपकूँगा
चाहे जो जगह हो!

प्रेम

रेत ही थी
जिसके निकट होते गये थे तुम

तप्त थी, तुम ढूँढते थे, धूप उसमें
भींगी थी, तुमने उसमें समुन्दर निहारा
कंचन-कण बिखरे दिखे, उसमें तुमने
घरौंदा रचने की पहल की

कोशिश जारी थी तुम्हारी, दिन तुम्हें
पार करते जाते थे जैसे रेल-डिब्बे
पीठ दे निकलते हैं संकेतक खंभे से
जा चुकी थी
तब भी तुम खड़े थे स्तंभित
यह भद्र भाषा में कहना हुआ
तुम उससे भद्र वाक्य कहते रहे
और संवाद से आगे नहीं....

न सूर्य था, न समुद्र न स्वर्ण
रेत थी। फिसली। रह गये तुम अपनी
अंगुलियों का कसाव शिथिल कर
रेशम को तो सरकना है पकड़ के सानुपात
किरकिराती रहेगी तुममें तुम्हारी
अंतिम गिरफ्त के ढीले पड़ जाने तक
जब वे तुम्हें बाँधकर ले जायेंगे
भस्म करती आग शायद हँस पड़े
कैसा आदमी था, जाते हुए
अपनी खुली मुठ्ठी में चिपका कर
लाया भी साथ तो बस
थोड़ी सी रेत!

एकांत

जब मैंने घड़ी के लिये एक मृत घंटा बजाया
भुर-भुराकर भसका था रेत का बुलबुला
एकांत हो या सुभीता जीने का
बेमोल नहीं होता उपलब्ध

मैंने पुकारा उसे जिसके बारे में
पता था कि नहीं है। पुकारा कि वह नहीं तो
एवज में अन्य कोई सुने। और सुने तो
सुन ले उस गैर-मौजूद सा ही होकर
उसकी तरह का उत्तर भी दे वह किसी तरह

मैं अकेला खिड़की के पंजों पर उठा हुआ
मेरा दूसरा मैं, मेरे पड़ोस में सटा हुआ
जैसे दो मित्र खड़े हों खिंचाने को फोटो
और अभ्यास करते हों साथ होने-मुस्काने का

तीसरा कोई शायद रहा हो, स्तब्ध
वहाँ जिसकी सुध मुझे, या दोनों को नहीं
न तो वह बोला, न ही सुना उसने
जैसे बारिश के थपेड़ों में रिहाइश हो उसकी
बौछार ठहर कर आती थी, सधी हुई
खिड़की की पीठ के काँचों पर फिसलती
सहमे सहमे थे उसके सार्वजनिक काम-काज

मैं समुद्र में सोते हुए तल की
कल में तलाशी ले रहा था
उसमें रपटीली काई की फसल थी
और घड़ियालों की भाँति धूप लेने
ऊपर उठाती थी पीठ

सभी के एकांत सतह पर अशांत दिखते थे!

मर कर फिर जिये जो

दूर से ही दिखे जो सर्वोत्तम रोहित
जिसकी पंखुडियाँ खोलूँ तो फूट पड़े
गुलाबी को जीती हुई रंगत
और उसकी संगत करता रेशम
मुलायम महकीला चाहिए वही मुझे

जो टहनी पर धागे में, पानी में
पहनावे के किसी बटन होल में
मेज पर सजे फूलदान में
प्यार को प्रेषित गुलदस्ते में
या जहाँ भी सोचें आप, चहके जो वहाँ
वही गुलाब!

जादू ही रहे जो
खिले, खिलखिलाता रहे
अपने अंतिम निमिष में भी
मर कर फिर जिये वो

शायद ही हो ऐसा कोई कहीं
मैं जानता हूँ-है नहीं
स्वप्नवत या परम जैसा गुलाब
या कोई भी संज्ञा जो आप उससे बदल लें

फिर भी मैं नाउम्मीद नहीं
माँगता हूँ अभिनव अभंगुर, अद्वितीय....

विशेषणों से भाराकुल असंभव गुलाब लोहित!

निराशा के पठार पर

(आशा बलवती कष्टं नैराश्यं परमं सुखम्)
मैं निराशा में डूब जाना चाहता हूँ
इतना कि चाहकर भी उछाह मेरे
हृदय को छू लेने में नाकाम रहे

निराशा से भर जाना चाहता हूँ मैं
वहाँ तक, कि मुझमें उम्मीद के
तृण की भी जगह न हो, इतना!

चूम लूँ निराशा का सगरमाथा, कि
उतने ऊँचे आने का हौसला नहीं हो
आस के किसी भी गरूड़ के पंखों में

निराशा के भूरे भीषण पठार पर
दौड़ जाऊँ दूर क्षितिज छोर तक
कि पीछा न कर सके कोई उमंग

किन्तु आशा का बीज मुझमें है जो
हो ही जाता है अंकुर और पौधा
बल्कि लहलहाता पूरा कद कदम्ब
पाँव मेरे उठने ही नहीं देता उधर
मुझमें उतरने नहीं देता निराशा
मुझे समेटे रखता है अपने में!

कैसा कठिन कवच है
यह बीज सुकुमार
कि लौटती है निराशा
लाचार हर बार!

उमाशंकर चौधरी की कविताएँ

मां से पिता क्या बहुत दूर थे

जब मेरी मां पर हाथ उठाते थे मेरे पिता
तब मेरी मां बहुत ही कातर निगाह से
देखती थी मेरी ओर
मैं तब बहुत छोटा था और यह समझ नहीं पाता था कि
मेरी मां तब मेरी ओर इसलिए देखती थी कि
मैं उन्हें बचा नहीं सकता
या इसलिए कि उन्हें शर्म आती थी
यूं अपने बच्चे के सामने पिता के हाथों पिटते
लेकिन मुझे यह याद अवश्य है
कि मेरी मां की निगाह तब बार-बार मुझ पर आ जाती थी

मेरे पिता बहुत गुस्सैल थे
और अपने गुस्से के क्षणों में
अपने आप को बिल्कुल भी रोक नहीं पाते थे
पिता अपने गुस्से पर काबू क्यों नहीं कर पाते थे
यह हम भाई-बहन कभी उनसे पूछ नहीं पाये

मैं तब बहुत छोटा था
लेकिन पिता जब भी मेरी मां पर हाथ उठाते थे
तब मुझे बहुत दु:ख होता था
मुझे बहुत बुरा भी लगता था
और दुख की क्या कहें मुझे अपने पिता पर बहुत खीझ होती थी
पिता से तब मैं नफरत करता था
और इस नफरत को मैं ही नहीं पिता भी जानते थे

मेरी मां बहुत अच्छी थीं
इसलिए पिता मां पर हाथ क्यों उठाते हैं
यह सोचकर और भी ज्यादा दु:ख होता था

यह खीझ तब और भी बढ़ जाती थी

जब मां पिता के सामान्य क्षणों में
पिता का बहुत सम्मान करती थी

मां अपने पड़ोसियों से कहती
कि यह तो इसके पापा ही हैं
जो हमारा घर इतना संभला हुआ दिखता है
मेरा क्या है मैं तो अपने हिस्से की रोशनी कहीं भी रखकर भूल जाती हूं

इसके पिता ने अपनी जिन्दगी में
बहुत दु:ख देखे हैं
और फिर इस घर को इस तरह संजोया है

मां पिता की जब तारीफ करती थी
तब उनके चेहरे पर कभी भी नहीं दिखता था
पिता का क्रुद्ध चेहरा
और उस क्रुद्ध चेहरे के साथ उनके द्वारा उठाया गया उन पर हाथ

यूं ऐसा नहीं था कि
मेरे पिता मेरी मां को प्यार नहीं करते थे
या फिर ऐसा भी नहीं था कि मेरे पिता की जिन्दगी में
किसी और स्त्री का प्रवेश हो गया था
मेरे पिता ऐसे पुरुषवादी भी नहीं थे कि वे औरत को अपनी जूती समझें
बस पिता अपने गुस्से को रोक नहीं पाते थे

जब पिता काम से थक-हार कर लौटते
तब उनका पारा सातवें आसमान पर होता था
वे तब एक क्षण को भी खाना-पीना या किसी और प्रकार के आदेश में
विलम्ब बर्दाश्त नहीं कर पाते थे
पिता गुस्साते थे और पिता का सारा गुस्सा
मां पर ही निकलता था
पिता मां पर हाथ उठाते थे और मां कातर निगाह से मुझे देखती थी
मैं तब बहुत बच्चा था और मैं बहुत दु:खी होता था

पिता जब गुस्से में होते थे तब
उन्हें देखकर ऐसा लगता था कि

वे अपनी जिन्दगी में सबसे ज्यादा नफरत मेरी मां से करते हैं
मुझे हर बार उनको देखकर ऐसा ही लगता था
कि क्या वाकई पिता मां से छुटकारा चाहते हैं

मेरी मां की मृत्यु कम उम्र में हुई
उनकी मृत्यु जब हुई तब वे पचास को भी छू नहीं पाई थीं
जब मां की मृत्यु हुई तब पिता बहुत रोये थे
और बहुत रोये क्या थे पछाड़ खाकर गिर पड़े थे
और फिर कई दिनों तक होश में नहीं आये थे
तब हमें लगा था कि पिता का व्यक्तित्व भी अजीब है

लेकिन यह व्यक्तित्व तब और भी अजीब लगा था जब
पिता ने मां की मृत्यु के बाद से बोलना बिल्कुल कम कर दिया था
उसके बाद हमने हंसते हुए भी उन्हें कम ही देखा था
लेकिन सबसे अजीब यह था कि
पिता ने गुस्सा करना बिल्कुल छोड़ दिया था

मां की मृत्यु के इतने बरस बाद
पिता को देखकर यह लगता ही नहीं है कि
ये पिता वही पिता हैं जो कभी गुस्से में अपना आपा
इतना खो देते थे कि मां को कातर निगाहों से मुझे देखना पड़ता था
पिता अब एक सौम्य पिता हो गये हैं

जब से मां की मृत्यु हुई पिता ने गुस्साना छोड़ दिया है
पिता बस जीवन को जिये जा रहे हैं
पिता एक बेजान पत्थर से बन गए हैं

मैं इतने बरस बाद
मां और पिता के इस अजीबोगरीब संबंध पर विचार करता हूं
तो बहुत मुश्किल में फंस जाता हूं
कि क्या वाकई पिता मां को बहुत प्यार करते थे
कि पिता कभी समझ ही नहीं पाये कि वे
अपने प्रेम से भी ऊपर पहले और सबसे पहले एक पुरुष थे
जिसकी उनको खबर भी नहीं थी।

खुले आसमान में सोने वाले

खुले आसमान में सोने वालों की दोस्ती है तारों से
खुले आसमान में सोने वाले बतियाते हैं तारों से

वे रूठते हैं और फिर
झट मान जाते हैं तारों से
वे बतियाते हैं तारों से और तारे उनसे

वे रोज रात बताते हैं तारों को
अपने दिन भर का हाल समाचार
अपनी मजदूरी की कहानी
और काम नहीं मिलने का बेइंतहां दुःख
अपने परिवार की आंखों को देखते हैं वे
उन तारों में

वे अपने हाथ को ऊंचा उठा दिखाते हैं
रोज अपनी रेजगारी
फिर झट से छिपा लेते हैं उन्हें
अपनी कमर के नीचे

वे देखते हैं तारों को
और अपने मन के भीतर बसे सारे नक्शों को
उकेरेते हैं उन पर
वे तारे बन जाते हैं स्लेट,
जिन पर नक्शे उकेर कर वे मिटा देते हैं
उन छोटे से दिखने वाले तारों पर
वे अपने सुखी परिवार के उकेरते हैं चित्र

खुले आसमान में सोने वालों को
तारों के बगैर नींद नहीं आती
जिस रात तारे नहीं उगते
खुले आसमान में सोने वाले
पूरी रात आंखों में ही काट देते हैं

सच

उस आदमी ने मुझे ठग लिया
यह कह कर कि हवा की दिशा तो देखो
ऐसा कह उसने अपने हाथ को
हवा की दिशा में बह जाने दिया
और मैं उसके कहे अनुसार हवा की दिशा तलाशने लगा

उस आदमी ने कहा
तुम खड़े हो और पृथ्वी चल रही है
और मैं पृथ्वी की घूमने की दिशा महसूस करने लगा
उस आदमी ने कहा
देखो सूर्य की रोशनी में तपिश है
मैं सूर्य की रोशनी में तपिश के कणों को चुनने लगा

उस आदमी ने जो कुछ भी कहा सब सच था
और उसे हम सब जानते थे
लेकिन उस आदमी ने इन आम बातों को कहा एक अचंभे की तरह
और फिर इस अचंभे के सहारे मुझे ठग लिया

उस आदमी ने मुझे ठग लिया
और मैंने उसे ठग लेने दिया
मैंने उसे ठग लेने दिया क्योंकि
उस आदमी की बातों में सच्चाई थी
और सच्चा इंसान अब कहां मिलता है।

दिल्ली मेट्रो: कुछ बिम्ब

(एक)

दिल्ली मेट्रो के लिए यह भीड़ का समय नहीं है
दिल्ली मेट्रो की फर्श पर
एक-सवा साल का बच्चा बैठा है
फर्श पर बैठा बच्चा खम्भे को पकड़ कर
खड़े होने की कोशिश करता है
बैठता है और खुश होता है
उस बच्चे के माता-पिता इसे देखते हैं
और उनकी आंखें जुडा जाती हैं
दिल्ली मेट्रो के यात्री उनींदें हैं
बच्चा फर्श पर खेल रहा है
और मेट्रो अपनी रफ्तार में आगे बढ़ रही है
मेट्रो तेजी से आगे बढ़ रही है
और उसके साथ वह बच्चा भी आगे बढ़ रहा है।

(दो)

दिल्ली मेट्रो के लिए यह अफरा-तफरी का समय है
जब यात्री अपने काम पर समय से पहुंचने के लिए
भाग-दौड़ कर रहे हैं
भीड़-भाड़ है, कोलाहल है, घुटन है
लेकिन दिल्ली मेट्रो के किनारे वाली उस सीट पर
वह जोड़ा इस भीड़-भाड़ से अलग प्रेम कर रहा है
वहां कोई शोर नहीं, कोई कोलाहल नहीं
हम पस्त हैं और वह जोड़ा बिल्कुल शांत है
बिल्कुल स्तब्ध उनके लिए जैसे वक्त थम सा गया है।

(तीन)

मेट्रो चल रही है
और यात्री लैपटॉप और मोबाइल में व्यस्त हैं
मोबाइल का नेटवर्क आ रहा है और जा रहा है
दिल्ली मेट्रो चल रही है और यात्री
एक साथ कई कामों में लगे हुए हैं
वे चल भी रहे हैं और इस दुनिया से जुड़ भी रहे हैं।

मौन की कोई भाषा नहीं होती

जिस देश से कर दिया गया हो
एक बुजुर्ग कलाकार को निर्वासित
और जहां अपने हक की लड़ाई लड़ने वाले
उस आम आदमी को कर दिया गया हो जेल के भीतर बंद
वहां वह बौना सा आदमी
आवाज उठाने की करता है कोशिश

वह आदमी करता है अपनी आवाज उठाने की कोशिश
और उसे एक पतली छड़ी से पीट-पीट कर
कर दिया जाता है बेदखल
उसे और उसकी संभावनाओं को मारा जाता है
बहुत महीनी से
उससे कहा जाता है पहले मौन रहना सीखो।

मौन की कोई भाषा नहीं होती
मौन की कोई आवाज नहीं होती
मौन में कोई ध्वनि नहीं होती
यह हम आप जितना जानते हैं उससे अधिक
वे जानते हैं जिनके चेहरे सफेद हैं
और जो बैठे हैं एक ही नीले आसमान के नीचे।

खद्दर कुर्ता पहने उस आदमी को
पुलिस की लॉरी में न्यूज चैनल पर देखकर
पूछती है मेरी सात साल की बेटी
क्यूं पकड़ लिया इसे पुलिस ने
बेटी के सवाल मुझे निरूत्तर करते हैं कि
क्या चुराया इसने, क्या छीना इसने
या फिर किसके तोड़ दिये इसने खिलौने
खद्दर पहने उस आदमी को देखकर
मेरे मन में उठता है सवाल कि
क्या जेल में अब उतर जायेगी उसकी यह खद्दर

क्या जेल में इसे भी पहना दिया जायेंगे कैदियों के सफेद कपड़े।

मेरी बेटी जो अभी यह नहीं समझ पायी है
कि इस देश में जुर्म की कोई नियत परिभाषा नहीं है
जुर्म का कोई पैमाना नहीं है
जुर्म से जुड़ी निश्चित कोई सजा नहीं है
उसे मैं यह समझा नहीं सकता कि
उस खद्दर पहने इंसान का जुर्म बस इतना है कि उसने
मांग दी थी इस उलझे हुए देश में
भूख से मर रहे लोगों के लिए दो रोटी
और रहने के लिए इस धरती पर एक रुपये के सिक्के भर की जगह।

जो आवाज उठायेगा उसे मार नहीं
सड़ा दिया जायेगा
यह हमारे देश का आज सबसे सस्ता और चलताऊ
मुहावरा बन गया है,
जिसे आप जब चाहें गा सकते हैं
चाहें तो किसी भी लय में
किसी भी राग में
या फिर अपने बाथरूम में अपने शरीर पर पानी उड़ेलते
इसे अगर गाया जाये फैशन में तो कुछ नहीं बिगड़ेगा
लेकिन अक्लमंदी इसी में है कि इस जुमले को
कभी भी गाया नहीं जाए गंभीरता से।

वह जो सम्मान समारोह चल रहा है
और जिसमें बैठा है उस नीले खूबसूरत झिलमिल आसमान का
एक सफेद चेहरा
उस समारोह में उस मंच पर
माइक पर और सामने कुर्सी पर भी बैठे हैं सफेद चेहरे
उसी समारोह में पहुंचता है वह सड़ा हुआ बौना आदमी
वे सफेद चेहरे हंसते हैं
उस हंसी के अंधेरे में कई योजनाएं तैयार हो रही होती हैं।
उस हंसी में कई योजनाएं रद्द हो रही होती हैं

उस सड़े हुए बौने आदमी की आवाज दबी हुई है
और वे सफेद चेहरे
उस समारोह के बाद उसे कुचलते हुए निकल जाते हैं।

उस बौने-कमजोर पिद्दी से आदमी की चीख में भी
कोई दम नहीं है
कोई लय नहीं है
खद्दर पहने और गले में गमछा लपेटे वह आदमी
जिसे देखकर मेरी बेटी हो जाती है उदास
अभी भी कैदखाने में कैद है।

लगता है हमारे देश के प्रधानमंत्री को
खबरों से ऊब सी हो गई है
बन्द कर दिया है उन्होंने अपना टेलीविजन सेट।

लेखकों से अनुरोध

- वैचारिक, आलोचनात्मक लेख, कहानी, डायरी, यात्रावृतांत आदि अधिकतम 3000 शब्दों तक ही प्रेषित करें।
- लेख के अंत में अपना नाम, पूरा पता, फोन, ई-मेल आदि का उल्लेख करें।
- भेजी गई सामग्री स्पष्ट एवं पठनीय हो तथा पन्ने के एक तरफ लिखी गई हो। बेहतर होगा कि लेख को यूनीकोड फॉन्ट में टाइप कराकर भेजें-।
- चित्र एवं अन्य कॉपीराइट-सुरक्षित सामग्री के संदर्भ में : लेख में उपयोग हेतु आवश्यक अनुमति लेना लेखक का उत्तरदायित्व होगा।
- रचनाओं की स्वीकृति व अस्वीकृति की सूचना एक माह के अंदर दे दी जाएगी। रचनाओं की वापसी के लिए जबाबी लिफाफा संलग्न करें।
- लेख के साथ भेजे गये पत्र में इस बात का उल्लेख अवश्य हो कि यह लेखक की मौलिक,अप्रकाशित, अप्रसारित रचना है तथा इसको प्रकाशन हेतु अन्यत्र नहीं भेजा गया है।

आप लेख amishrafaiz@gmail.com, amitbishwas2004@gmail.com पर ई-मेल कर सकते हैं अथवा रजिस्ट्रीकृत डाक से निम्न पते पर भेज सकते हैं -

संपादक
बहुवचन
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा-442005 (महाराष्ट्र)

क्या होता है एक लेखक का आत्म संघर्ष

संजीव

क्या होती है एक परेशान लेखक की बेचैनी? क्या होता है उसका आत्मसंघर्ष? रचना के स्तर पर निखरता हुआ और भौतिक स्तर पर बिखरता हुआ....पहली स्थिति के प्रति प्रशंसा और दूसरी के प्रति उपेक्षा! और वह अंदर ही अंदर टूटता रहता है...कहाँ तक ले जा सकती है यह टूटन उसे- इस मुददे पर सोचता रहता हूँ। यह प्रख्यात आलोचक रामविलास शर्मा की जन्म शताब्दी है। उन्हें याद करते हुए मैं निराला को याद करने लगता हूँ।

मेरे सामने उनकी सुप्रसिद्ध कृति ''निराला की साहित्य साधना-1'' का पृष्ठ 156 खुला पड़ा है। 'सुर्ज कुमार तेवारी' सूर्यकांत त्रिपाठी निराला बनते हुए गढ़ाकोला, महिषादल, डलमऊ होते हुए पत्नी मनोहरा देवी समेत ढेर सारे आत्मीय जनों को गंवाकर कलकत्ते की 'मतवाला' पत्रिका के पड़ाव पर हैं। लेखनी निखार पर है और आर्थिक स्थिति जर्जर। शर्मा जी के शब्दों में- दूसरे दिन वह काम की तलाश में निहाल चन्द्र वर्मा के पास गये। पिछले साल इन्हीं के यहाँ से निराला की पहली आलोचना पुस्तक 'रवीन्द्र कविता कानन' निकली थी, भूमिका में प्रकाशक ने लिखा था, ''मुझे इस ग्रंथ की एक-एक लाइन साहित्य रस से भरी हुई प्रतीत हुई।'' पुस्तक तो, साहित्य रस से भरी हुई थी, लेकिन लिखाई मिली थी वही चार आने पेज। निहाल चंद्र वर्मा ने शकुंतला पर एक नाटक लिखने को कहा।

निराला ने वह भी लिख डाला। फिर प्रस्ताव आया बांग्ला की पुस्तक 'वात्स्यायन कामसूत्र' के हिंदी अनुवाद का। आधा पैसा पहले, आधा अनुवाद पूरा हो जाने के बाद। बीच में जरूरत के मुताबिक महेश्वरी समाज से संबंधित नाटक भी लिख डाला- 'समाज', अभिनय भी.....। अब पैसों के लिए 'कामसूत्र' का अनुवाद लेकर निहाल चन्द्र वर्मा के पास गये। वर्मा ले गए ऊपर हिंदी नाट्य समिति के दफ्तर- भाई दयाराम बेरी के पास। बात बढ़ती गई। पैसों की जगह मिला दयाराम द्वारा काठ की तलवार का प्रहार। धक्कम धक्की करते हुए किसी तरह बचकर आए और यह बात मूलचंद्र अग्रवाल, उग्र, महादेव सेठ सबसे कही। इसके पहले कि कोई बीच-बचाव होता दयाराम 'मतवाला' के आफिस आये और उग्र के उकसाने पर निराला ने दयाराम को उठाकर पटक दिया और चाकू निकाल कर कहा-अभी तेरी नाक काटता हूँ। सेठ महादेव प्रसाद ने दोनों को अलग किया मगर दोषी निराला को ही माना। निराला सोचने लगे, 'यह महादेव सेठ हैं जो

मेरे विरूद्ध दयाराम का पक्ष ले रहे हैं। दोनों बिजनेस मैन। मेरे ऊपर उसने प्रहार किया, उससे इन्हें जरा भी क्षोभ नहीं। मैंने मतवाला के लिए क्या नहीं किया। मतवाला हिंदी का सिर-मौर बना निराला के बल पर... मगर... धैर्य की भी सीमा होती है। कोई कब तक बर्दाश्त करे?.... जब भाग्य में अपमानित होना लिखा है तब दूसरों को दोष क्या दें?

पुत्र रामकृष्ण को अपने युवक मित्र शिवशेखर द्विवेदी और दूसरे मित्रों को सौंपा, कहा, 'अब मैं वहाँ नहीं रहूँगा। (कबीर की आत्मा- अब न रहौं एहि गांव गुसाई!) आज मैं सन्यास ले रहा हूँ। तुम लोग कालीघाट तक मेरे साथ चल सकते हो।' सर मुड़ाया, स्नान किया, कपड़े भिखारियों को दे दिए। जनेऊ उतारा। सन्यासियों के कपड़े धारण किए और सबसे विदा ली। कुछ ही घंटों में संकल्प क्षीण होने लगा। जैसे भरम उतर गया हो- यह मैं क्या कर रहा हूँ? सरोज, रामकृष्ण, केशव किसका मुँह देख कर जियेंगे? भाग खड़े हुए सन्यासी बनकर? एक ही झटके में डगमगा गए? किसने लिखा था- मेरा अंतर बज्र कठोर? (रचना भी रचनाकार को संभालती है।) ये जो तमाम छोटे-छोटे दिये टिमटिमा रहे हैं, सब बुझ जायेंगे, युग का साहित्य एक सूर्यकान्त के प्रकाश से चिरदीप्त रहेगा!

और रात ग्यारह बजे निराला लौट आए, सन्यास को सन्यास देकर। 'हुमा को कब चुगद पहचानता है' गुमान के गुब्बारे पर सवार, कर्मयोगी कभी हठयोग भी साध लेता है। डार्विन के 'विकासवाद' को प्रसाद की 'कामायनी' के कंधे पर चढ़कर दे डाली चुनौती और कश्यप, दिति, अदिति के उल्लेख के साथ ज्ञान से सृष्टि और मानव समाज की रचना का रहस्य समझाने पर आमादा हो गए। फिर नीचे जल था, ऊपर हिम था, एक तरल था, एक सघन, एक तत्व की ही प्रधानता, कहो उसे जड़ या चेतन (जड़ या चेतन में अपने ही विरूद्ध जाकर फंस गए तो भाग क्यों खड़े हुए?) लगे हाथों एक फंसान और।

मनोहरा देवी और रत्नावली के प्रति हुई उपेक्षा को 'वामा इस पथ पर हुई वाम सरितोपम' और उनकी मृत्यु को लुप्त सरस्वती में प्रतीकीकृत करते हुए गरिमा से लीप कर खुद को और तुलसी को अपराध से बरी किया। मन का मोदक खाते हुए 'कृष्ण जी का विवाह' की भव्य बारात निकाल दी, लेकिन यथार्थ में अपनी ही बेटी का ब्याह कैसा रहा? खुद पिंडोर से अपने हाथों घर की पुताई/ गोबर से लिपाई/घर में ही जमाई/न कोई बरात/न कोई जलसा/ उच्च वर्ग का विरोध। कुंजात न ब्राह्मण! जब भी हारे साहित्य में भागकर शरण ली। तुम्हारी आँखों के सामने तुम्हारी बेटी सरोज तिल-तिलकर मरती रही और तुम्हें साहित्य से फुर्सत नहीं। मर गई। तुम रोये नहीं, 'सरोज स्मृति' लिखी। यथार्थ में बेटी को

बचा न सके और साहित्य में उसे अमर कर दिया। रत्नावली, मनोहरा देवी और बेटी सरोज-तमाम जिंदगी चमकीली कल्पना से बदरंग यथार्थ के दर्द को ढकते रहे। (क्यों? भर आई आँख? सिल गए होंठ?) तुम्हारी आत्मा तो कभी रोई नहीं- 'मार खा रोई नहीं।'

'कुकुरमुत्ता' उतनी ही श्रेष्ठ है, जितनी 'तुलसीदास'? *('तुलसीदास' के प्रशंसक अपना सिर धुनें तो धुनते रहे मेरी बला से।)*

'चतुरी चमार' भी सही है, 'कुल्ली भांट' भी, 'देवी' भी और हनुमान जी भी, वेदांत भी, अद्वैतवाद भी? *(इसमें न समझ में आने का क्या है?)*

'तुम और मैं', की झंकार क्या नजरूल की 'अग्निवीणा की है? (*कौन बेवकूफ बकता है?)*

'काश' बैसवाड़ा (पश्चिमी अवध) भी बंगाल की तरह हरा-भरा होता हर तरह से! फिर भी बांग्ला हिंदी से श्रेष्ठ कतई नहीं। कैसी तड़प थी? हिंदी के लिए रवीन्द्रनाथ से झगड़े, जवाहरलाल नेहरू से झगड़े, महात्मा गांधी से झगड़े, भरम! भरम! भरम! *('क्या यह भी भरम है कि पैसे नहीं देते प्रकाशक, काम करा कर पैसे नहीं देते हरामजादे? दुलारे लाल भार्गव ने मांगने पर भी न दिये। दिये होते तो शायद बेटी सरोज की दवा-दारू करा कर उसे बचा लेते।)*

क्या होगा इन रचनात्मक उपलब्धियों का, ख्याति का, अगर अपनों को ही नहीं बचा सका? (यह मत पूछिये कि अपनो को बचाने का यत्न कितना किया, क्या उतना भी, जितना अपनी रचनाओं को बचाने का किया?)

यह सवाल निहायत ही निजी और नाजुक है- आप वेश्याओं के पास जाते रहे? *(पाखाना, पेशाब की तरह कोई कब तक इन प्राकृतिक मांगों को रोके? खैर अब इस प्रसंग में आगे कुछ न पूछना।)*

निराला न अपनों को बचा सके, न अपने को। विक्षिप्तता के वे दिन....मात्र गमछे में नंग धड़ंग इलाहाबाद के 'साहित्य संसद' में रूसी पढ़ाने वाली महिला मिस केम्प को बता रहे हैं-

'मैं भी एक बार रूस गया था। चार बार इंग्लैण्ड जा चुका हूँ। 'गीतांजली' आपने पढ़ी होगी, वह मैंने ही लिखी थी। वह मेरी प्रीमैच्योर्ड एटेमप्ट थी। पर रवीन्द्रनाथ के नाम से छपी। हमारे हजारों अंग्रेजी में, बांग्ला में वर्क्स हैं.... हमारी लाखों करोड़ों की संपत्ति है और करोड़ों रूपये का व्यापार है। अधिकांश विदेशों में। इलाहाबाद में ही हमारे आठ-दस बंगले हैं। यह बंगला भी हमारा है। महादेवी जिस बंगले में रहती हैं, वह भी .....।' अंत में अंग्रेजी में बोलने लगे। फिर अपनी कविताएँ सुनाई और सबसे अंत में पत्नी मनोहरा देवी और तुलसी

को एक साथ साधते हुए भजन... श्री रामचन्द्र कृपालु भजु मन हरण भव भय दारूणम्...।

कितनी...कितनी लालसाएं और कैसी-कैसी हतक!

देर से ही सही, निराला को बचाने के लिए समितियां बनीं, मगर न समितियों ने ईमानदारी से काम किया, न कोई राजनेता आगे आया चिकित्सा की सुचारू व्यवस्था के लिए। निराला के संबंध में रामविलास जी ने समर्पित भाव से इतना कुछ लिखा है कि वह रामविलास जी की निराला साधना बन गया है, जो उन्होंने नहीं लिखा, शिवमंगल सिंह सुमन और दूसरों ने लिखा। कुल मिलाकर जाने क्यों मेरे मस्तिष्क में झाड़ी में सींग उलझाये सांड़ की छवि बनती है निराला की।

विक्षिप्तता के प्रारंभिक चरणों में भगवतीचरण वर्मा का विश्लेषण कुछ इस प्रकार है:-

"एक अरसे से कुछ लोगों द्वारा यह शक किया जाता था कि हिंदी के सुविख्यात कवि, उपन्यासकार और कहानी लेखक पंडित सूर्यकांत त्रिपाठी निराला की ख्याति की तह में उनकी कला की श्रेष्ठता इतनी अधिक नहीं है, जितनी उनकी विचित्रता से भरी प्रतिभा है।

"इधर हाल में उनकी विचित्रता से भरी प्रतिभा सीमा तोड़ने पर आमादा हो गई है। अगर उलजलूल बातें लिखना और उनकी घोषणा करना, अगर लोगों की सुरूचि पर प्रहार करना, अगर जनमत अथवा लोकमत की भददे तौर पर हँसी उड़ाना ही उत्कृष्ट कला है तो हम स्वीकार करते हैं कि निराला जी का इस युग के सर्वश्रेष्ठ कवि अथवा कथाकार होने का दावा जो वे अक्सर मौके-बेमौके उचित-अनुचित ढंग से किया करते हैं, सोलह आने ठीक है।

"पर हमारा ख्याल कुछ दूसरा ही है। हम समझते है कि निराला जी का मस्तिष्क उनके प्रकांड पाण्डित्य तथा विशद कला के गुरूतर भार को सहन नहीं कर सका। और परिणाम यह हुआ कि उनकी भारती भयंकर रूप से असंयत होकर दुनिया की निर्धारित रूढियों को तोड़ने पर कटिबद्ध हो गईं।"

अंत में रूककर एक सवाल पूछने को जी चाहता है- निराला को कठघरे में उतार कर खुद को कठघरे में खड़ा करके पूछें- क्या यह अकेले निराला का ही आत्मसंघर्ष है? क्या यह आत्मसंघर्ष अधिकांश लेखकों का नहीं है? कहीं न कहीं कुछ न कुछ निरालापन हम सब के बीच नहीं है- स्वीकृति और प्रशंसाओं की चाह में मस्त, प्रकाशकों, ईर्ष्यालुओं और बैरियों से त्रस्त, अर्थभाव के दंश में बिलबिलाते ....झाड़ियों में सींगें उलझाए....?

रामविलास शर्मा की 'स्क्रैप बुक्स'-1

डॉ. विजय मोहन शर्मा

यह वर्ष प्रख्यात आलोचक रामविलास शर्मा का जन्म शताब्दी वर्ष है। इस अंक से हम बहुवचन के पाठकों के लिए 'रामविलास की स्क्रैप बुक्स' शीर्षक एक नयी लेख-माला आरम्भ कर रहे हैं। 'स्क्रैप बुक्स' से क्या तात्पर्य है, प्रस्तुत लेख के दूसरे-तीसरे पैराग्राफ को समाप्त करते-करते स्पष्ट हो जायेगा। इस शीर्षक के अंतर्गत जो सामग्री उपलब्ध है, उसे केवल एक या दो किश्तों में समाप्त नहीं किया जा सकेगा। इस तरह, निश्चय ही कई किस्तों में काफी रोचक और पठनीय सामग्री पाठकों को पढ़ने को मिलेगी। डॉ. विजय मोहन शर्मा ने, अपनी अनूठी शोध-वृत्ति के तहत, इसे जुटाने तथा प्रस्तुत करने में जो परिश्रम किया है, उसके लिए हम हृदय से उनके आभारी हैं। अब विजय जी से ही जानिए कि ये 'स्क्रैप बुक्स'-जिन्हें आप 'कतरन पुस्तिकाएँ' भी कह सकते हैं-क्या हैं और इनमें क्या–क्या है।

रामविलास जी डायरियों का सदा उपयोग करते थे। एक डायरी तो उनके दैनिक उपयोग के लिए होती थी जिसमें वह रोजमर्रा की जिन्दगी में जो उन्हें महत्वपूर्ण लगता था, उसे दर्ज करते थे। एक डायरी उनके नोट्स लिखने के लिए होती थी जिसमें वह जिस विषय पर उस कालावधि विशेष में काम कर रहे होते थे, या लिखने वाले होते थे, उसके नोट्स लेते थे। इनमें से कुछ डायरियाँ ऐसी होती थीं, जिनका उपयोग कुछ समय के बाद समाप्त हो जाता था। बाद में ऐसी डायरियों को वह 'स्क्रैप बुक' की तरह इस्तेमाल कर लेते थे।

उनकी 'ऑफिस स्टेशनरी' में एक कैंची और एक गोंद-दानी हमेशा मौजूद रहती थी। अखबारों, पत्रिकाओं आदि में उनके मानदण्ड के मुताबिक कोई रोचक अथवा उल्लेखनीय चीज उन्हें दिखाई देती थी, तो वह उसे काट कर अपनी पुरानी डायरी में-जो अब 'स्क्रैप बुक' के रूप में इस्तेमाल के लिए थी-चिपका लेते थे। जाहिर है, 'स्क्रेप बुक' में उन्हीं लोगों से संबंधित चित्रों या जानकारी को जगह मिलती थी, जिनके व्यक्तित्व के किसी न किसी पक्ष ने रामविलास जी को प्रभावित किया होता था।

* 'स्क्रैप बुक्स' में कार्टून हैं, फोटुएँ हैं, टिकट हैं और इसी तरह की चिपकायी-जा सकने-वाली अन्य सामग्री है।

** इनमें कई प्रविष्टियाँ ऐसे लोगों से संबंधित हैं, जिनके बारे में मुझे कुछ पता नहीं था। मैंने सोचा, आखिर इन लोगों में ऐसा क्या था जिसकी वजह

से इन लोगों को 'स्क्रैप बुक' में जगह मिली, मानो वह कोई 'स्क्रैप बुक' नहीं, 'रोल ऑफ ऑनर' हो गई।

*** इन लोगों के बारे में जानकारी प्राप्त करने के बाद, ये 'स्क्रैप बुक्स' निस्सन्देह, किसी 'रोल ऑफ ऑनर' से कम नहीं लगती।

तो अब प्रस्तुत है, इसकी कुछ प्रविष्टियों के बारे में जानकारी:

हॉकी के जादूगर: ध्यान चंद

मेजर ध्यान 'चन्द' सिंह (29 अगस्त 1905-3दिसम्बर 1979) भारतीय हॉकी के सबसे प्रसिद्ध खिलाड़ी थे। वह उन तीनों टीमों के सदस्य थे जिनको ओलम्पिक खेलों में स्वर्ण-पदक हासिल करने का गौरव प्राप्त हुआ था। ये तीनों ओलम्पिक हुए थे-क्रमश: एम्सटर्डम (1928), लॉस एँजिलेस (1932) और बर्लिन (1936) में।

भारत सरकार ने सन् 1956 में ध्यानचन्द को पद्मभूषण से अलंकृत कर उनका सम्मान किया।

ध्यान सिंह का जन्म एक बैस राजपूत घराने में प्रयाग (उत्तर प्रदेश) में हुआ था। ये वही बैस लोग हैं जिनके नाम पर उनकी रिहाइश वाले भू-भाग का नाम 'बैसवाड़ा' पड़ा था।

ध्यान सिंह के पिता जी फौज में थे और वे हॉकी भी खेलते थे। ध्यान सिंह के दो भाई और थे : मूल सिंह और रूप सिंह। इनमें से रूप सिंह भी हॉकी खेलने में ध्यान सिंह की तरह प्रसिद्ध हुए।

फौज में होने के कारण पिता जी का जगह-जगह तबादला होता रहता था, जिससे ध्यान सिंह की किसी एक जगह रह कर सुचारू रूप से पढ़ाई नहीं हो पायी। उन्होंने छठी क्लास के बाद स्कूल छोड़ दिया।

स्वयं ध्यान सिंह ने, फौज से रिटायर होने के बाद, झांसी में ही अपना घर बनवा लिया और वहीं रहने लगे थे।

बचपन से ही खेल-कूद में ध्यान सिंह को गहरी रूचि थी। उन्हें कुश्ती लड़ने का भी शौक था। झांसी में इन लोगों के घर के पास एक मैदान था। वहाँ कुछ लोग-जिनमें फौज के सिपाही भी होते थे-हॉकी खेलते थे।

इन्हीं लोगों की देखा-देखी ध्यान सिंह और किशोरावस्था के उनके अन्य मित्र हॉकी खेलते थे। झांसी में खजूर के पेड़ बहुतायत में थे। इनकी शाखाओं को तोड़ कर, पत्तियाँ निकाल देने और शाखाएँ सुखा लेने पर, नीचे की गोलाई के कारण, वे हॉकी जैसी लगने लगती थीं।

बस अब क्या था! फटे-पुराने बेकार कपड़ों को गोलाई में सुतली से लपेट

कर गेंद का रूप दे दिया जाता, या किसी छोटे गोल पत्थर को ही गेंद मान लिया जाता... और यह लीजिए, खेल शुरू!! इन लोगों को खेलते हुए दूसरे लोग भी देखते थे-खास तौर पर फौजी खिलाड़ी।

एक बार, ध्यान सिंह जब मात्र चौदह वर्ष के थे, अपने पिता जी के साथ हॉकी का एक मैच देखने गए। इस मैच में एक टीम दो गोल से हार रही थी।

ध्यान सिंह ने अपने पिता जी से कहा: मुझे मौका मिले तो मैं हारती टीम को जिता सकता हूँ। पिता जी सुन कर मुस्कराये, लेकिन इसे ध्यान सिंह का 'बचपन' मान कर चुप रहे।

लेकिन जब ध्यान सिंह ने यही बात दोबारा कही, तो एक फौजी अफसर ने जो उन लोगों की बातचीत सुन रहा था, ध्यान सिंह को खेलने की अनुमति दे दी। ध्यान सिंह मैदान में उतरे और थोड़ी देर में ही चार गोल, दाग कर हारती टीम को जिता दिया।

अफसर ने प्रसन्न होकर ध्यान सिंह को बच्चों की पल्टन में भर्ती करवा दिया। सोलह वर्ष की अवस्था प्राप्त करने पर ध्यान सिंह बाकायदा फौज के सिपाही बन गए। वहाँ उन्हें अपने खेल को निखारने का अच्छा अवसर मिला। लगातार अभ्यास और परिश्रम के बल पर एक समय आया कि वह विधिवत् भारत की टीम में खेलने के लिए चुन लिये गए।

ध्यान सिंह के प्रथम 'कोच' पंकज गुप्ता ने उनके खेल के बारे में कहा था: एक दिन हॉकी का यह खिलाड़ी चांद की तरह चमकेगा।

इस तरह ध्यान सिंह, ध्यान चांद या ध्यानचंद बन गए।

बात इंडियन इन्फैन्ट्री टूर्नामेंट की है। झेलम में इन्फैन्ट्री टूर्नामेंट का फाइनल था। ध्यान सिंह की टीम दो गोल से हार रही थी। खेल समाप्त होने में सिर्फ चार मिनट बाकी थे- आखिरी के चार मिनट। उनके अफसर ने ललकारा:

आगे बढ़ो जवान,

कुछ तो करो, ध्यान!

ध्यान ने वाकई 'कुछ' कर दिखाया। बाकी बचे चार मिनटों में तीन गोल दाग कर उन्होंने अपनी टीम को जिता दिया।

सन् 1926 में भारतीय फौजी टीम को न्यूजीलैण्ड और ऑस्ट्रलिया के दौरे पर जाने का मौका मिला। इस दौरे में ध्यान 'चंद' सिंह को खेल में हासिल महारत दिखाने का अच्छा मौका मिला। इस दौरे पर गई फौजी टीम ने कुल 23 मैच खेले। इनमें से 20 मैच वह जीती, 2 बराबरी पर रहे और केवल एक मैच हारी।

टीम ने कुल मिलाकर 192 गोल किए थे, जिनमें से 100 से ऊपर गोल ध्यानचंद ने किए थे। टीम के विरूद्ध कुल 24 गोल हुए थे। एक मैच भारतीय टीम ने 20 गोल से जीता था, जिसके 10 गोल ध्यानचंद ने किए थे।

इस दौरे से वापस लौटने पर ध्यानचंद की पदोन्नति कर दी गई। अब वह 'लान्स नायक' बना दिए गए।

सन् 1935 में भारतीय टीम ने ऑस्ट्रेलिया और न्यूज़ीलैण्ड का दौरा किया। इस बार भारतीय टीम ने 43 मैचों में 584 गोल किए, जिनमें से 201 ध्यानचंद के किए हुए थे। इस दौरे में प्रसिद्ध क्रिकेट खिलाड़ी ब्रैडमेन ने ध्यानचंद को हॉकी खेलते हुए देखा और कहा-"ये तो ऐसे गोल करते हैं मानो क्रिकेट में रन बना रहे हों!"

सन् 1928 में, एम्सटर्डम में होने वाले ओलम्पिक खेलों में, हॉकी को पहली बार शामिल किया गया। प्रतियोगिता की तैयारी के रूप में भारतीय टीम ने इंग्लैण्ड का दौरा किया।

इस दौरे में भारतीय टीम ने 10 मैच खेले और कुल 72 गोल किए। इनमें ये 36 गोल अकेले ध्यानचंद ने किए थे।

ओलम्पिक खेलों में भाग लेने यूरोप प्रस्थान करने से पहले बम्बई में भारतीय टीम ने एक 'प्रैक्टिस मैच' खेला। उसमें 'ओलम्पिक टीम' बम्बई की टीम से तीन के मुकाबले दो गोल से हार गई। लक्षण अच्छे नहीं दिखाई दे रहे थे। शायद इसी कारण, विदाई के समय मात्र तीन अधिकारी टीम को छोड़ने आए थे।

प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए हॉकी खेलने वाले नौ देश थे। इन्हें दो भागों में बांटा गया था।

भारत का पहला मैच ऑस्ट्रिया से था, जिसे भारत ने 6-0 से जीता। इन 6 गोलों में 4 गोल ध्यानचंद ने किए थे।

अगला मैच बेल्जियम से था। इसमें हमारी टीम नौ गोलों से जीती। इसके बाद डेनमार्क को 5 गोलों से हरा कर हमारी टीम 'सेमी फाइनल' में पहुंच गई।

'सेमी फाइनल' में हमारी टीम ने स्विट्जरलैण्ड को 6 गोलों से पराजित किया और इस तरह भारतीय टीम हॉलैण्ड से टक्कर लेने के लिए 'फाइनल' में पहुँच गई। मैच चूँकि हॉलैण्ड में ही हो रहा था, अत: दर्शकों की भारी भीड़ इकट्ठा हुई थी-लगभग पचास हजार दर्शक मैच देखने के लिए आ जुटे थे।

भारतीय टीम ने सुंदर खेल का प्रदर्शन करते हुए हॉलैण्ड की टीम को तीन गोल से हराया जिनमें से दो गोल ध्यानचंद के किए हुए थे। स्थानीय

अखबारों में लिखा गया: "यह हॉकी का खेल नहीं, जादू था और ध्यानचंद हॉकी का जादूगर है।"

यह तो महत्वपूर्ण है ही कि 1928 के ओलम्पिक खेलों के इस दौरे में ध्यानचंद ने इतने सारे गोल किए, यह और भी महत्वपूर्ण है कि ये गोल उन्होंने कैसे किए।

हॉकी की इस जीत के साथ, आधुनिक ओलम्पिक खेलों में भारत ने ही नहीं, एशिया ने पहला स्वर्ण-पदक प्राप्त किया था। जाहिर है कि भारत लौटने पर टीम का भव्य स्वागत किया गया और इसके जाते समय जहाँ मात्र तीन अधिकारी विदाई के लिए उपस्थित हुए थे, वहाँ अब स्वागत के लिए इतने लोग आए थे कि तिल रखने को जगह नहीं थी।

1932 के ओलम्पिक खेल लॉस ऍंजिलेस (अमेरिका) में होने थे।

ध्यानचंद उन दिनों फौज में अपनी ड्यूटी के तहत उत्तर-पश्चिमी सीमा पर तैनात थे। टीम के चुनाव और तैयारी के लिए आयोजित किए गए 'कैम्प' में आने की उन्हें अनुमति नहीं मिली थी। फिर भी, टीम में उनका चुनाव हो गया (अगर आज जैसी स्थिति होती तो ध्यानचंद शायद चुने ही न जाते!)। इस बार ध्यानचंद के छोटे भाई रूप सिंह भी टीम में चुने गए थे।

लॉस एंजिलेस में होने वाले ओलम्पिक खेलों में हॉकी खेलने वाली टीमों की संख्या अपेक्षाकृत कम थी। जापान के साथ हुए पहले मैच में हमारी टीम 11-1 से जीती। इन ग्यारह गोलों में से 4 गोल ध्यानचंद ने और 3 गोल रूप सिंह ने किए थे।

फाइनल मैच भारत को अमेरिका से खेलना था।

इस मैच में भारत ने मेज़बान टीम को 24-1 से हरा कर नया कीर्तिमान स्थापित किया। इन 24 गोलों में से ध्यानचंद ने 8 और रूप सिंह ने 10 गोल किए थे।

इस तरह पूरी प्रतियोगिता में भारत द्वारा किए गए 35 गोलों में से 25 गोल इन दोनों भाईयों द्वारा किए गए थे। स्वभावत:, अब इन दोनों को 'हॉकी ट्विन्स' के नाम से जाना जाने लगा।

समाचार पत्रों में छपे कुछ कार्टूनों में तो ध्यानचंद की हॉकी को एक कोबरा नाग की शक्ल में दिखाया गया था जिसके सामने बैठ कर ध्यानचंद बीन बजा रहे थे।

इन ओलम्पिक मैचों से लौटते समय भारतीय टीम कोलम्बो, लाहौर और बम्बई में रूकी। इस लम्बे दौरे में भारतीय टीम ने कुल 37 मैच खेले जिनमें से

34 जीते, 2 में बराबर रही और 1 अधूरा छोड़ना पड़ा था। टीम ने कुल मिला कर 338 गोल किए जिनमें से 133 ध्यानचंद के किए हुए थे और 94 रूप सिंह के।

1936 का ओलम्पिक फाइनल

सन् 1936 के ओलम्पिक खेलों के लिए जब भारतीय टीम का चुनाव हो रहा था तो ध्यानचंद एक बार फिर ड्यूटी पर थे और उन्हें 'कैम्प' में शामिल होने के लिए छुट्टी नहीं मिल सकी।

नियमों के अनुसार, जो लोग 'कैम्प' में नहीं आए थे, उन्हें टीम में जगह नहीं दी गई।

ध्यानचंद को भी छोड़ दिया गया।

अब तो सारे देश में हल्ला मचने लगा।

अन्ततः भारतीय हॉकी फेडरेशन ने एक बार फिर फौज से ध्यानचंद को छुट्टी देने की अपील की।

इस बार छुट्टी मिल गई। और, ध्यानचंद न सिर्फ टीम में चुने गए, बल्कि उन्हें टीम का कप्तान भी बना दिया गया।

प्रस्थान से पहले टीम ने दिल्ली में एक 'अभ्यास मैच' खेला। किन्तु इस मैच में भारतीय टीम 1-4 से हार गई।

ध्यानचंद ने सोचा, कहीं यह 'अपशकुन' तो नहीं?

कहीं उनकी कप्तानी में टीम 'पिट कर' तो नहीं आने वाली!

बर्लिन में होने वाले ओलम्पिक खेलों को हिटलर ने अपनी 'हित-सिद्धि' के 'अच्छे मौके' के रूप में इस्तेमाल किया। वह दुनिया को अपनी ताकत और प्रभुत्व दिखाना चाहता था।

एक लाख दर्शकों से भरे स्टेडियम में चारों ओर बड़े-बड़े स्वास्तिक लटकाये गए थे। माहौल गर्म था। 'मार्च पास्ट' के समय कुछ लोगों ने हिटलर को सलामी दी, कुछ ने नहीं।

खेलों का शुभारम्भ करते समय चौदह हजार किलोग्राम वजन के घण्टे का उपयोग किया गया। आधुनिक ओलम्पिक खेल 1896 में एथेन्स में शुरू हुए थे। उस खेल की मैराथन दौड़ का ग्रीक विजेता स्पीरीडियन लुई बर्लिन ओलम्पिक में उपस्थित था। उसने हिटलर को जैतून की एक शाखा भेंट कर उसका सम्मान किया। पहली बार सूर्य की ऊष्मा से ओलम्पिक मशाल जलाई गई।

तो, ऐसे माहौल में खेल शुरू हुए।

भारत ने पहले दो मैचों में अमेरिका और जापान को 10-0 और 9-0 गोलों से हराया। लेकिन आगे के मैच इतने आसान नहीं थे।

टूर्नामेंट से पहले एक 'अभ्यास मैच' में भारत जर्मनी से हार गया था। फाइनल में जर्मनी से ही टक्कर होने की संभावना थी।

अब एक तरफ से जर्मनी फाइनल में पहुँचा-डेनमार्क, अफगानिस्तान और हॉलैण्ड को हरा कर। लेकिन भारत को अभी दो मैच और खेलने थे।

'सेमी-फाइनल' में भारत को फ्रांस से खेलना था। इस बार भारतीय टीम में ध्यानचंद के मित्र अली इक्तिदार शाह दारा भी थे जो किन्हीं कारणों से टीम के साथ नहीं आ सके थे, लेकिन जिनका ध्यानचंद को बड़ी बेसब्री से इंतजार था

फ्रांस से मैच हुआ और भारत फ्रांस को 10 गोल से हरा कर फाइनल में जा पहुँचा। इन 10 गोलों में से 2 दारा ने किए थे, 4 ध्यानचंद ने, 2 रूप सिंह ने तथा शेष अन्य ने।

इस तरह, जर्मनी और भारत 1936 के ओलम्पिक खेलों के हॉकी के खिताब के लिए एक-दूसरे से भिड़ने को अब तैयार थे। 'फाइनल' देखने के लिए चालीस हजार से अधिक दर्शक उपस्थित थे। आस-पास के देशों और इंग्लैण्ड से अनेक भारतीय यह मैच देखने के लिए बर्लिन आए थे। इनमें बड़ौदा के महाराजा भी थे। दर्शकों में उस सदी का सबसे बड़ा तानाशाह हिटलर भी था।

ड्रेसिंग-रूम में भारतीय खिलाड़ियों ने तिरंगा उठाया और 'वन्दे मातरम्' गाया।

अंग्रेजी राष्ट्र–गान की जगह 'वन्दे मातरम्' गाना गया।

सीटी बजी और खेल शुरू हुआ।

जर्मनी की टीम ने खेल की भारतीय पद्धति को अपनाया। छोटे-छोटे पास देकर उसने आगे बढ़ना शुरू किया। बारिश हुई थी, लेकिन धूप निकल आने से जमीन सूखने लगी थी। तेज रफ्तार से खेले जा रहे मैच में जर्मनी वाले गेंद को 'अण्डर-कट' करके हिट कर रहे थे, साथ ही भारतीय खिलाड़ियों के आगे बढ़ने के हर प्रयत्न को सफलतापूर्वक रोक रहे थे। दारा ने दो बार गोल करने की कोशिश की, लेकिन दोनों बार 'ऑफ-साइड' घोषित कर दिए गए। सभी को लग रहा था: पहला गोल महत्वपूर्ण होगा।

आखिर 32वें मिनट पर, जफर के पास पर, रूप सिंह ने एक बड़े कठिन कोण से गोल किया।

मध्यान्तर तक मैच का यही स्कोर रहा : भारत-1, जर्मनी-0।

मध्यान्तर के बाद, जमीन चूँकि अब भी गीली थी और फिसलन वाली थी, ध्यानचंद ने कीलों वाले जूते और अपने मोजे उतारकर रख दिए और नंगे पैरों खेलना शुरू किया।

'जादूगर' ने अब 'जादूगरी' दिखानी शुरू की। गेंद ध्यानचंद की हॉकी से ऐसी सटी दिखाई देती जैसी गोंद से चिपका दी गई हो। ध्यानचंद, जो आम तौर से गेंद को आगे ले जाकर दूसरे साथी खिलाड़ियों को 'पास' कर देते थे, अपने साथियों से बोले-अब आप लोग मुझे 'पास' दो और बाकी काम मुझ पर छोड़ दो।

और, ध्यानचंद ने अगले पांच मिनटों में चार गोल दाग कर खेल अपने कब्जे में कर लिया। जब 6 गोल हो गए तो जर्मन टीम खिसियाने लगी और प्रयत्न करने लगी कि ध्यानचंद को चोटिल करके मैदान छोड़ देने को विवश कर दे। उन्होंने धक्का-मुक्की जैसे हथकण्डे अपनाने शुरू कर दिए। ध्यानचंद जब अगला गोल करने के लिए जर्मन गोल के निकट पहुँचे, तो जर्मनी का गोल-कीपर तेजी से आकर उनसे भिड़ गया और उनका एक दांत तोड़ दिया। जर्मन खिलाड़ी प्रसन्न थे कि 'खतरा' मैदान में हट जाएगा।

लेकिन उनकी यह प्रसन्नता क्षणिक साबित हुई क्योंकि ध्यानचंद प्राथमिक चिकित्सा के तत्काल बाद मैदान में वापस आ डटे। वह अपने साथियों से बोले: अब हम इन्हें दिखायेंगे कि गेंद पर नियंत्रण (बॉल-कन्ट्रोल) क्या होता है।

अब तो भारतीय खिलाड़ी गेंद को 'डी' (गोल के पास अर्ध चन्द्राकार रेखा) तक ले जाकर आपस में 'पास' करने लगते। वे न तो गोल करते और न गेंद को प्रतिपक्षी खिलाड़ियों के पल्ले पड़ने देते।

अंत में मैच समाप्त हुआ तो भारत 8-1 से विजयी घोषित किया गया।

ध्यानचंद के खेल से प्रभावित होकर हिटलर ने उन्हें जर्मनी आने का निमंत्रण दिया। लेकिन ध्यानचंद ने बड़ी शालीनता से उसे ठुकरा दिया। तो, ऐसे थे ध्यानचंद।

ध्यानचंद की एक मूर्ति झांसी शहर में है, एक वियना में। वियना में स्थापित मूर्ति में उनके चार हाथ दिखाये गए हैं और हर हाथ में एक हॉकी है। निस्सन्देह, वह कम से कम 4 खिलाड़ियों के बराबर तो थे ही।

ध्यान चंद के साथी दारा

ध्यानचंद के साथी खिलाड़ी-और उनके अभिन्न मित्र-दारा, उनके साथ देश के लिए साथ-साथ खेले थे। किन्तु देश के विभाजन के बाद, दारा पाकिस्तान चले गए। तो भी, दोनों की आत्मीयता और परस्पर सम्मान में कोई कमी नहीं आई।

1948 में पाकिस्तान की टीम अब ओलम्पिक प्रतियोगिता में उतरी, तो उसमें दारा भी थे। बाद में, दारा ने 'पाकिस्तान हॉकी फेडरेशन' की कमान सँभाल

ली और उनकी रहनुमाई में पाकिस्तान ने हॉकी का पहला (ओलम्पिक) स्वर्ण पदक जीता।

सन् '70 वाले दशक में दारा पाकिस्तान की टीम के साथ भारत दौरे पर आए थे। यहाँ उनकी मुलाकात अपने पुराने मित्र ध्यानचंद से हुई। इन दो पुराने मित्रों का मिलन बड़ा भावपूर्ण था। यह चित्र उसी समय का है। 'स्क्रैप बुक' में सँजो रखे गए चिद्ध के साथ 18 अक्तूबर 1974 के 'नवभारत टाइम्स' में छपा विवरण इस प्रकार है: (चित्र के नीचे रामविलास जी ने लिखा है 'भारत का भविष्य')

जोड़ी अमर रहे

यह जोड़ी अमर रहे, जुग-जुग जिये। कर्नल दारा और मेजर ध्यानचंद। कर्नल दारा का स्वप्न साकार हुआ और इन्हीं के सतत प्रयत्न के फलस्वरूप आजकल एशियाई हॉकी टीम पाकिस्तान के भ्रमण के बाद भारत का दौरा कर रही है। पिछले बीस वर्षों से जो टीमें अंतरराष्ट्रीय हॉकी मंच पर एक-दूसरे पर हावी होने की खातिर अपना सब कुछ दाँव पर लगाती आ रही हैं, आज वे ही एशियाई टीम के रूप में मिल कर पाकिस्तान और भारत की टीमों से टक्कर ले रही हैं।

भारतीय खिलाड़ियों से पता चला कि पाकिस्तान में उनका जो सम्मान जनता ने किया वह अपने आप में एक इतिहास बन चुका है। करांची, लाहौर, पेशावर और इस्लामाबाद में भारतीय खिलाड़ी, अशोक, अजीत पाल, हरमीक आदि सभी को लोगों ने कन्धों पर उठा लिया। प्रशिक्षक बालकिशन ने बताया कि वहाँ वे यह देखकर हैरान हो गए कि पाकिस्तान वाले अपने राष्ट्रीय हीरो को भुला कर भारतीयों के स्वागत में मतवाले हो गए।

कर्नल दारा ने बताया कि इसी प्रकार जालंधर, लखनऊ व दिल्ली में पाक खिलाड़ियों का जो ख़ैरमकदम किया गया, उससे वे बड़े प्रभावित हुए। इन हॉकी मैचों को देखने के लिए पाक व भारत में जिनती बड़ी संख्या में दर्शक उमड़ पड़े इससे यह जाहिर होता है कि दोनों ही देशों की जनता अपने राजनीतिक भेदभाव भुलाकर खेल मंच पर कन्धे से कन्धा मिला कर चलने को लालायित है।

कर्नल दारा पाकिस्तान में ही एक राष्ट्रीय हॉकी महासंघ में बहुत आगे बढ़ चुके हैं, लेकिन वे अपने कप्तान मेजर ध्यान चंद का उतना ही सम्मान करते हैं जितना कि एक खिलाड़ी को करना चाहिए।

कर्नल जब कल प्रधानमंत्री के निवास-स्थान पर पहली बार मेजर से मिले तो दोनों ही गले मिल कर फफक-फफक कर रो पड़े। पुरानी यादें ताज़ी हुईं।

विश्वविख्यात इन दो हस्तियों का मिलन बड़ा हृदयग्राही बन गया।

नेशनल स्टेडियम में कल उमड़ पड़े विशाल जन-समूह की ओर इशारा करते हुए मेजर ध्यानचंद ने कहा कि जो लोग यह कहते हैं कि हॉकी की लोकप्रियता कम हो गई हैं, वे वास्तव में बड़े भ्रम में हैं। आपसी भ्रमण से दोनों का ही भला होगा। दादा खुश थे कि उनका खिलाड़ी आज अन्तरराष्ट्रीय मंच पर चमक रहा है।

स्क्रैप बुक' में क्यों?

संभवत: पहला कारण तो यही है कि झांसी में स्कूल में पढ़ते समय रामविलास शर्मा भी हॉकी खेलते थे। झांसी में लिये गए एक पारिवारिक फोटोग्राफ में, जिसमें वह अपने भाइयों के साथ बैठे हैं, उनके हाथ में हॉकी है-इस बात की सूचक कि वह हॉकी खेल कर आए हैं।

झांसी सदर में उस मकान के (जिसमें उन दिनों हमारे परिवार के लोग रह रहे थे) पास की ग्राउण्ड जिसे 'नल्ले पार का मैदान' (क्योंकि पास ही एक नाला था) कहा जाता था, शायद वही है जहाँ ध्यानचंद भी कभी खेलते थे।

लेकिन दूसरा, मुख्य और महत्वपूर्ण कारण यह है कि दो खिलाड़ी मित्र, अपने देश और धर्म की सीमाओं से ऊपर उठकर, कैसे मिलते हैं और परस्पर एक-दूसरे का सम्मान करते हैं। इस तरह यह घटना भविष्य के लिए एक अनुकरणीय उदाहरण बन जाती है।

इसी प्रकार, हिन्दुस्तानी खिलाडियों की पाकिस्तानी जनता द्वारा आव-भगत यह दर्शाती है कि साम्प्रदायिक विद्वेष कुछ गुमराह लोगों तक ही सीमित है।

नई आर्थिकी, कारपोरेट कल्चर और मीडिया

उमेश चतुर्वेदी

'दुनिया जैसी भी है, बनी रहेगी और चलती रहेगी ।'
-वाल्टर लिपमैन, अमेरिकी पत्रकार

भारतीय दर्शन में भी जीवन और दुनिया को लेकर कुछ वैसी ही धारणा रही है जैसा वाल्टर लिपमैन ने कहा था। इस कथन में नियति को स्वीकार करने का भी एक बोध छुपा हुआ है। दुनिया और अपने आसपास के माहौल में मौजूद तमाम तरह के अंतर्विरोधों के बावजूद यह नियतिवादी दर्शन ही उसके प्रति विरोध और विद्रोह की संभावनाओं को खारिज करता रहता है। कहना न होगा कि इसी नियतिवाद का शिकार इन दिनों भारतीय मीडिया और उसमें सक्रिय लोग भी हैं। लेकिन इसका मतलब यह नहीं है कि वे अपनी नियति से विद्रोह करना नहीं चाहते। लेकिन नई आर्थिकी ने जिस तरह खासतौर पर महानगरीय जिंदगी को आर्थिक घेरे में ले लिया है, वहां विरोध और विद्रोह की गुंजाइश लगातार कम होती गई है। कर्ज के किश्तों पर टिकी जिंदगी की जरूरतें और आडंबर ने मीडिया में काम कर रहे लोगों को भी इतना घेर लिया है कि तमाम तरह की विद्रूपताओं के बावजूद वे इसे झेलने के लिए मजबूर हैं। हालांकि कभी-कभार कुछ विरोध के स्वर दिखते भी हैं तो वह किसी भड़ासी या मोहल्लावादी संजाल पर साया होकर तिरोहित हो जाते हैं। शायद यही वजह है कि मीडिया को लेकर उठ रहे वे सारे सवाल सिर्फ बाहरी लोगों के लिए चर्चा के सवाल बनकर रह गए हैं, जिन पर कायदे से मीडिया के अंदरूनी हलकों में भी विचार होना चाहिए था और उसके लिए नई राह निकालनी चाहिए थी।

मीडिया के अब तक तीन दायित्व गिनाए जाते रहे हैं- सूचना देना, शिक्षा देना और मनोरंजन करना। मीडिया के जरिए दी जाने वाली शिक्षा का असर कितना व्यापक होता रहा है, इसे समझने के लिए लोकमान्य तिलक का वह बयान याद कर लेना चाहिए, जो उन्होंने केसरी निकालने के बाद दिया था। केसरी निकालने से पहले वे अध्यापक थे। केसरी निकालने के बाद उन्होंने कहा था कि वे अब जगदगुरू बन गए हैं। मीडिया के विस्तारित असर को इस एक बयान से समझा जा सकता है। लेकिन तब मीडिया के इस व्यापक असर का उपयोग मानवता और सरोकारों के लिए किया जाता था। लेकिन कारपोरेट दौर के मीडिया के लिए सरोकार और मानवता दूसरी प्राथमिकता है। अगर मानवता के सवाल को लेकर सत्ता या कारपोरेट के हित नहीं टकराते तो उसके लिए वह खबर

अनदेखी ही रह जाती है। 2007 में नोएडा के एक पॉश इलाके से एडोबी के सीईओ के बेटे का अपहरण हो गया, चूंकि मसला यह कारपोरेट से जुड़ा था, लिहाजा यह देश की सबसे बड़ी खबर बन गई। तब तक नोएडा के ही निठारी के 36 बच्चे लापता हो चुके थे लेकिन उनकी तरफ किसी का भी ध्यान नहीं था। इसके बाद जैसे ही निठारी को लेकर उत्तर प्रदेश के सत्ता तंत्र पर सवाल उठने लगे, वह खबर भी कारपोरेट कल्चर के मीडिया की सुर्खियां बन गईं। यह सिर्फ इसलिए संभव हो पाया, क्योंकि तब उत्तर प्रदेश में विधानसभा चुनाव होने वाले थे और इस चुनाव में केंद्र में सरकार चला रही कांग्रेस से लेकर सत्ता पर निगाह गड़ाए बैठी बीएसपी तक का राजनीतिक स्वार्थ छुपा हुआ था। एक दौर ऐसा भी आया कि वोटों के चलते उत्तर प्रदेश की तत्कालीन सरकार के अस्तित्व पर ही खतरा मंडराता नजर आने लगा। चूंकि राजनीति से कारपोरेट का सीधा रिश्ता अब छिपा नहीं रह गया है, लिहाजा कारपोरेट मीडिया के लिए निठारी की खबर भी अप मार्केट खबर बन गई। अगर किसी को शक हो कि मीडिया ने सरोकार और मानवता के नाम पर सवाल उठाए तो वह भ्रम में है। यह बात और है कि जब ऐसी खबरों को बेचने की बारी आती है तो कारपोरेट मीडिया भी खुद को सरोकारी बताने से पीछे नहीं हटता।

आखिर सवाल यह है कि आखिर सरोकार क्यों आगे आता है। इसको समझने के लिए हमें कम से कम भारतीय पत्रकारिता के विकास के ऐतिहासिक संदर्भों को समझना होगा। भारत में पत्रकारिता की शुरूआत जिस जेम्स ऑगस्टस हिक्की ने की थी, उनका सीधा मकसद था ईस्ट इंडिया कंपनी के भ्रष्टाचार को उजागर करना। इसके लिए उन्होंने कीमत चुकाई। यानी भारतीय पत्रकारिता की नींव ही विरोध और सरोकार के दर्शन पर टिकी है। बाद में भाषाई पत्रकारिता ने विरोध के इसी दर्शन के जरिए राष्ट्रीय सवालों को उठाया। भारतीय पत्रकारिता में मूल्यों और सरोकारों को समाहित करने का दौर स्वतंत्रता आंदोलन में शुरू होता है। अगर दूसरे शब्दों में कहें तो भारतीय पत्रकारिता का विकास चूंकि स्वतंत्रता आंदोलन की कोख से हुआ है तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। शायद यही वजह है कि कम से कम भारतीय प्रिंट माध्यमों में सरोकार और मूल्यों का असर आज भी है। दो सौ साल के इतिहास और दौर से हासिल मूल्य आसानी से तिरोहित नहीं हो सकते। दुर्भाग्यवश आज का कारपोरेट मीडिया मूल्यों को लगातार नकार रहा है। उसके लिए मीडिया भी कम खर्च में ज्यादा मुनाफा कमाने का जरिया बन गया है। लिहाजा उसे भी मीडिया के इस्तेमाल से कोई गुरेज नहीं है। विदेशी विद्वान हेबरमास ने जिस सार्वजनिक क्षेत्र यानी लोकवृत्त की अवधारणा दी थी, अगर

भारतीय पत्रकारिता में वह दिखता या विकसित होता नजर आ रहा है तो वह स्वतंत्रता आंदोलन में ही नजर आता है। इसी दौर में संस्थानों का विकास होता है, सार्वजनिक विचारों का विकास होता है और देश-समाज को लेकर प्रगतिशील अवधारणाएं विकसित होती हैं। आजादी के बाद के कुछ दशकों तक यह अवधारणा मीडिया को नैतिक रूप से नियंत्रित करती रही। लेकिन जैसे ही आपातकाल लगा तो इस अवधारणा ने एक धार को हासिल कर लिया। तब चूंकि लोकतंत्र और आमलोगों के सवाल केंद्र में थे, लिहाजा मीडिया ने उन सवालों को हाथोंहाथ लेने में गुरेज नहीं किया। लेकिन आज सवाल पर सवाल उठते रह जाते हैं, जनता के बीच आंदोलन होते रह जाते हैं, लेकिन कारपोरेट कल्चर में रचे-पगे नए मीडिया का ध्यान इन खबरों पर तभी जाता है, जब उसके पीछे कोई राजनीति या कोई कारपोरेट का स्वार्थ होता है। इन अर्थों में मीडिया की स्वतंत्रता की वह अवधारणा ही सवालों पर उठ खड़ी होती है, जिसे जॉन मिल्टन ने सत्रहवीं सदी में दी थी। कमोबेश उसी अवधारणा पर आधारित आजादी के ही सहारे लोकतांत्रिक समाजों में मीडिया काम करता रहा है। जिसमें कालान्तर में नैतिक धाराएं शामिल होती गईं। यह माना जाने लगा कि बिना आजाद मीडिया के लोकतंत्र का न तो अस्तित्व हो सकता है और न ही विकास। स्वतंत्रता आंदोलन के दौरान गांधी जी ने भी मीडिया की आजादी की अवधारणा पर विचार किया। उनका मानना था कि विज्ञापन के सहारे चलने वाला मीडिया आजाद नहीं हो सकता। दक्षिण अफ्रीका के अपने फीनिक्स आश्रम में उन्होंने बरसों तक घाटा सहकर भी **इंडियन ओपीनियन** प्रकाशित किया। देश में **हरिजन** और **यंग इंडिया** के प्रकाशन का आधार भी ग्राहकों से मिलने वाला चंदा या कीमत ही रहा, विज्ञापन नहीं रहा। गांधी कितने सही थे, उनकी सोच कितनी दूरदर्शी थी, वह आज के दौर में साफ नजर आ रही है। अगर किसी आंदोलन से विज्ञापनदाता या ऐसे रसूखदार को नुकसान हो सकता है, जो मौजूदा कारपोरेट मीडिया को फायदा पहुंचाता रहता है तो उस आंदोलन की खबर आती ही नहीं। अगर खबर आती भी है तो तब, जब जनता के बीच से प्रकाशन या प्रसारण की साख पर संकट और सवाल उठ खड़े होते हैं। जॉन मिल्टन की अवधारणा के चलते कारपोरेट दौर में भी मीडिया की साख की पूंजी सिर्फ और सिर्फ पाठक या दर्शक ही हैं। लिहाजा मीडिया को एक बार फिर दर्शक या पाठक के दरबार में आना पड़ता है और असहज लगने वाली खबरें दिखानी- छापनी पड़ती है। लेकिन यह भी सिर्फ रस्मी ही होता है।

यह सच है कि हिंदी मीडिया ने मौजूदा दौर में संपादकों की साख को खत्म कर दिया है। संपादक सिर्फ इसलिए रखे जाते हैं, क्योंकि प्रेस एंड बुक रजिस्ट्रेशन यानी पीआरबी एक्ट के मुताबिक संपादक की तैनाती की कानूनी बाध्यता है। लेकिन ऐसे लोग संपादक रखे जाते हैं, जो कारपोरेट कल्चर में सिर्फ हाँ में हाँ मिलाएं और खबरों के गोरखधंधे में शामिल रहें। इसके लिए इन दिनों संपादकों के लिए भरपूर मुआवजे का इंतजाम भी है। बाहर से देखने वाले संपादक संस्था के इस क्षरण को लेकर सिर्फ पत्रकारीय जमात को ही दोषी ठहराते हैं। हकीकत यह है कि अब कारपोरेट ही नहीं चाहता कि रीढ़ वाले लोग संपादक बनें क्योंकि अगर वे बनें तो उन्हें जॉन मिल्टन की अवधारणा और गांधी के विचार याद आने लगेंगे। मौजूदा कारपोरेट कल्चर में इन विचारों के जरिए पैसे तो कमाए नहीं जा सकते। लिहाजा ऐसे लोगों का नाम चर्चा में आया नहीं कि उन्हें किनारे लगाने की कोशिशें तेज हो जाती हैं। यही वजह है कि छद्म बौद्धिक आवरण वाली शख्सियतें ही इन दिनों संपादकीय प्रमुख की भूमिकाएं हासिल कर रही हैं। यह गिरावट नई आर्थिकी से जुड़े टेलीविजन चैनलों में ज्यादा दिखती है। सबसे दिलचस्प यह है कि यह सब सिर्फ और सिर्फ प्रोफेशनलिज्म के नाम पर होता है। अर्थशास्त्र का सिद्धांत है न कि खोटे सिक्कों की अधिकता बाजार से असल सिक्कों को गायब कर देती है। पत्रकारिता में भी इन दिनों कुछ ऐसा ही हो रहा है। इसका एक असर मीडिया संस्थानों में प्रतिभाओं को कुंठाओं के बीच आगे बढ़ते देखा जा सकता है। एक दौर में हनक और खुद के चुनाव के दम पर आने वाली प्रतिभाएं अब पत्रकारिता की ओर कम रूख कर रही हैं। अगर कोई प्रतिभा आ भी गई तो वह प्रसिद्ध मराठी पत्रकार डी. आर. मनकेकर की किताब 'नो माई सन नेवर' को ही याद करते हुए भावी प्रतिभाओं को पत्रकारिता में आने से अवरोधित और हताश करता रहता है। लेकिन इसका यह भी मतलब नहीं है कि असल पत्रकारिता नहीं हो रही है। आज ज्यादातर असल पत्रकारिता वे लोग कर रहे हैं, जो सीधे तौर पर मीडिया में नहीं हैं और उनकी जीविका मीडिया पर आधारित नहीं है। ऐसे में एक सवाल बड़ी शिद्दत से उठ रहा है कि मिल्टन की अवधारणा के मुताबिक मीडिया की जो स्वतंत्रता है, जिसे भारतीय संविधान ने अनुच्छेद 19 ए में दिया है, वह किसके लिए है- पत्रकारों के लिए, मीडिया हाउस चलाने वाले कारपोरेट के लिए या फिर कारपोरेट के लिए। लेकिन सबसे हैरत की बात यह है कि इस बुनियादी सवाल को लेकर सार्वजनिक चिंता भी नहीं है। इस चिंता और इस पर आधारित विमर्श को राजनीति आगे बढ़ा सकती है। लेकिन मौजूदा राजनीति में भी सहिष्णुता का वह स्तर नहीं रहा, जो कम से कम दो

दशक पहले तक था। लिहाजा कारपोरेट के खेल की तरफ से वह आंख मूंदे बैठी है। उसका एक ही बहाना होता है कि मीडिया की आजादी में खलल डालने का उसका कोई इरादा नहीं है। मीडिया की आजादी में खलन न डालने के इस राजनीतिक बहाने के पीछे कतिपय पत्रकारीय संगठन भी हैं। दिलचस्प यह है कि जिन संगठनों की तरफ से यह विरोध हो रहा है, उनके ज्यादातर कर्ताधर्ता कारपोरेट -राजनीति के खेल में लाभकारी हिस्सेदार हैं।

बहरहाल इन सारी कवायद का असर लोकतंत्र के विकास पर पड़ रहा है। क्योंकि आज का मीडिया लोकतांत्रिक धाराओं की बहुलता का वाहक नहीं रहा है। दूरदराज की आवाजें और दर्द मीडिया की जरूरत तब तक नहीं बनते, जब तक कारपोरेट और राजनीति का कोई फायदा नहीं छुपा हो। मौजूदा मीडिया के ज्यादातर हिस्से को दबी-कुचली आवाजों और अनैतिक कृत्यों से असर नहीं पड़ता। बड़े भ्रष्टाचारियों पर हाथ डालने में उसे हिचक होती है, लेकिन पुलिस का सिपाही और ट्रेन के टीटी के लिए वह रोजाना स्टिंग कर सकता है। मौजूदा सामाजिक ढांचे में मीडिया इतना ताकतवर है कि उसके लिए छोटे अधिकारी और सिपाही जैसी शख्सियतें कोई मायने नहीं रखतीं लेकिन राजनीति या कारपोरेट जगत की बड़ी हस्तियों के भ्रष्टाचार की खबरें दिखाने –छापने का सवाल आते ही उसे अपनी हैसियत का अहसास होने लगता है। इसका ही असर है कि पिछले दो दशक में गरीब की उस अनुपात में हालत नहीं सुधरी, जिस अनुपात में करोड़पतियों की हालत सुधरी है। पैसे वाले और मालदार हुए हैं। अब उन्हें अपने धन के अश्लील प्रदर्शन से परहेज भी नहीं रहा। दिलचस्प यह है कि मीडिया इसे वैसे ही पेश करता है, जैसे मध्यकाल तक रजवाड़ों की उपलब्धियों का भाट गुणगान करते थे। लोकतांत्रिक समाज में इसे अब चलन भी मान लिया गया है। ऐसे में सवाल यह है कि क्या मीडिया ऐसे ही चलता रहेगा। क्या मीडिया की स्वतंत्रता का कारपोरेट या उसे चलाने वाला कारोबारी समूह तय करेगा या फिर पत्रकारों की स्वतंत्रता असल में दी जाएगी। ब्रिटिश और अमेरिकी समाजों में मीडिया की स्वतंत्रता का मतलब एक हद तक पत्रकारों की स्वतंत्रता ही है। वहां कारपोरेट से ज्यादा संपादक नाम की संस्था तय करती है कि क्या दिखाना या क्या छापना है। हालांकि ऐसा नहीं कि उनके यहां राजनीतिक हस्तक्षेप नहीं होते। बुश सरकार ने खाड़ी युद्ध के दौरान इराक से सही खबरें दिखाने वाले सीएनएन के संवाददाता को नौकरी से निकालने के लिए मजबूर कर दिया था। इराक में जैविक हथियारों की गलत जानकारी के आधार पर ब्रिटेन को खाड़ी युद्ध में झोंकने वाले ब्रिटिश प्रधानमंत्री टोनी ब्लेयर के झूठ की परतें जब खुलीं तो ब्रिटिश सरकार की

नाराजगी बढ़ गई। इस खबर को दिखाने वाले बीबीसी के पत्रकारों और महानिदेशक तक को इस्तीफा देना पड़ा। लेकिन ऐसी घटनाएं वहां के समाज में इक्का-दुक्का होती है, जबकि हमारे यहां ऐसा चलन बन गया है। ऐसे में सवाल यह है कि क्या मीडिया ऐसे ही चलता रहेगा, समाज का जिम्मेदार तबका इसी धारा को स्वीकार करता रहेगा या फिर मीडिया को नैतिकता की पटरी पर लाने की कोशिश की जाएगी। इस पर विचार होने लगा है। मीडिया प्रोफेशनल्स के एक वर्ग की मांग है कि मीडिया की मौजूदा स्थिति पर विचार करने के लिए मीडिया कमीशन का गठन होना चाहिए। कुलदीप नैय्यर, रामशरण जोशी, रामबहादुर राय जैसे वरिष्ठ पत्रकारों ने इसके लिए अभियान छेड़ रखा है। देश में पहला मीडिया कमीशन, जिसे प्रेस कमीशन कहा गया था, पचास के दशक में बना था। तब से लेकर अब तक मीडिया के स्वरूप और संस्कृति में आमूल-चूल बदलाव आ चुका ह। मीडिया की जरूरतें और समाज की सोच में भी बदलाव आ चुका है। मौजूदा समाज में मीडिया को किस तरह आगे बढ़ना चाहिए और उसकी धारा क्या होनी चाहिए, वक्त आ गया है कि उस पर विचार किया जाय। हालांकि कारपोरेट हाउस और कारपोरेट मीडिया इस मांग को उपेक्षित करने में ही अपनी पूरी ऊर्जा लगाए हुए है। लेकिन देर-सवेर यह मांग जोर पकड़ेगी। क्योंकि लोकतांत्रिक समाज देर तक चुप बैठ नहीं सकता। अतीत में उसने साबित किया है कि मूल्यों के सवाल जब भी उठे हैं, उनके लिए समाज का लोकवृत्त उठ खड़ा हुआ है। तब तक हमें इंतजार तो करना ही होगा।

भारत माता का मैला आँचल'

भारत यायावर

'मैला आँचल' ने अपने प्रकाशन के साथ ही हिन्दी उपन्यास के विकास में जो अहम भूमिका निभाई थी, अपने परवर्ती कथाकारों पर जो अमिट छाप छोड़ी थी वह आज भी बरकरार है। 'मैला आँचल' हिन्दी उपन्यासों के बीच मील-स्तम्भ की तरह है और इसकी महत्ता को बहुत कम उपन्यास स्पर्श तक कर पाये हैं। 'मैला आँचल' में वह शक्ति है कि घनघोर रूप में स्थानीक होते हुए भी यह लोकप्रियता के शिखर पर लगातार कायम है तथा इसका अनुवाद देश विदेश की अनेक भाषाओं में लगातार हो रहा है। आलोचकों की पुरानी पीढ़ी से लेकर नयी पीढ़ी तक इसके मूल्यांकन के लिए उद्यत होती रही है। इस पर वाद-विवाद का दौर आज भी जारी है। पुनर्मूल्यांकन की कोशिशें भी होती रहीं हैं। 'मैला आँचल' के प्रकाशन के बाद हिन्दी में सैकड़ों उपन्यास प्रकाशित हुए, जिनमें अधिकांश काल के गर्त में दब गये किन्तु 'मैला आँचल' समय की कसौटी पर कालजयी उपन्यास सिद्ध हुआ।

'मैला आँचल' हिन्दी उपन्यासों की परम्परा में एक महत्वपूर्ण और नया पड़ाव है। इसे किनारे रखकर हिन्दी उपन्यासों पर कोई भी चर्चा अधूरी ही रहेगी। रेणु ने भी अपने जीवन में इसके समानान्तर कोई दूसरा उपन्यास नहीं लिखा। परवर्ती कथाकारों के लिए भी यह एक मानक कृति है। 'मैला आँचल' तत्सम के बरक्स तदभव को महत्व देता है। महानायकों की जगह होटे और गौण तथा महत्वहीन मनुष्यों की प्रतिष्ठा करता है। गाथा की जगह कथा को स्थापित करता है। यह आँचलिकता और राष्ट्रीयता दोनों छोरों को एक साथ साधता है। यह सांस्कृतिक चेतना से सम्पृक्त होते हुए भारत के असली सुराज की पड़ताल करता है। यह टूटे-बिखरे हुए समाज को जोड़ने की कोशिश करता है। यह मध्यकालीन संतों की वाणी एवं चेतना से सम्पृक्त है। इसमें परम्परा और आधुनिकता का अनोखा संतुलन है। 'मैला आँचल' की शक्ति है उसका मारक व्यंग्य और प्रखर राजनीतिक चेतना जो बहुत कम उपन्यासों में ही दिखाई पड़ता है। वह स्थान एवं काल-सम्बद्ध होते हुए भी सर्वकालिक एवं सर्वदेशीय है।

'मैला आँचल' का प्रकाशन अगस्त, 1954 में हुआ। इसके प्रकाशन के बाद ही हिन्दी के अलावा अन्य कई भारतीय भाषाओं में भी इसकी चर्चा होने लग गई थी और इसे लेकर तरह-तरह के विवाद और बहसें लम्बे समय तक चलती रही और आज भी कमोबेश यह स्थिति बरकरार है। इसके आधार पर 'आँचलिक

उपन्यास' की एक नई श्रेणी की अवधारणा हिन्दी के अलावा अन्य भारतीय भाषाओं में भी निर्मित हुई और 'आँचलिकता' को लेकर आज भी कई बहस तलब लेख लिखे जा रहे हैं। इस उपन्यास के प्रकाशनोपरांत 'प्रेमचन्द की परम्परा' पर भी हिन्दी में सार्थक बहसें हुई। 'मैला आँचल' ने न सिर्फ रेणु को हिन्दी साहित्य में एक बड़े कथाकार के रूप में प्रतिष्ठित किया, अपितु हिन्दी की उपन्यास विधा में एक युगान्तर भी उपस्थित किया। इस गौरवशाली, कालजयी उपन्यास ने हिन्दी भाषा के अभूतपूर्व कौशल, व्यंजना और संगीतात्मकता की गहरी क्षमता से पहले-पहल परिचित कराया।

'मैला आँचल' के प्रकाशन के बाद उसको लेकर दो महत्वपूर्ण घटनाएँ घटीं। पहला यह कि रेणु पर मानहानि का मुकदमा दायर किया गया और दूसरा उसे सतीनाथ भादुड़ी के उपन्यास 'ढोंढ़ाईचरितमानस' की नकल में लिखा गया बिहार के ही कुछ लेखकों द्वारा प्रचारित किया गया। मुकदमा लड़ते हुए रेणु ने वाचस्पति पाठक को इसका पूरा ब्यौरा एक पत्र में लिख भेजा। रेणु ने लिखा है- "कानून और कचहरी के पैंतरे! भगवान बचायें। मुकदमा दिलचस्प है, इसलिए मेरी तारीख के दिन कचहरी में भीड़ लग जाती है।..... मेरे गाँव के पास एक सज्जन हैं- उन्होंने 'मैला आँचल' के तहसीलदार को अपनी तस्वीर समझ लिया है। मूरख आदमी है, पुराना मुकदमेबाज है। संभवतः उसने अपने वकील से पहले भी सलाह ली होगी।" ..... रेणु उसी पत्र में आगे लिखते हैं- "मुकदमें की पेशी के दिन संचालक, सूत्रधार छाते की ओट से फौजदारी कचहरी कंपाउण्ड के बाहर, दीवानी कचहरी के आसपास चक्कर मारते रहते हैं। पिछली तारीख को दलित-संघ के सेक्रेटरी साहब भी कचहरी में नहीं आये, क्योंकि वकीलों की टोली 'मैला आँचल' तथा अन्य रचनाओं के जीते-जागते पुतलों को उँगलियाँ बता-बता कर इधर-उधर चक्कर मारती है। बेवजह पान की दुकान पर खड़े एक आदमी से नाम पूछ लेते हैं- आपका नाम? क्या आपका घर फारबिसगंज थाना है? – "जी मेरा नाम?" पान खाते हुए नौजवान वकील साहब ने नाम को एक बार दुहराया, फिर ठठाकर हँस पड़ा- "ओ, आप 'मैला आँचल' के फलाने जी हैं।" एक नया वकील- जो अपने लेखक को भी समझता है- इन मौकों का फायदा उठा रहा है। उसने सिर्फ तीन ही पेशी के दिन घूम-घूमकर देख लिया है- 'अलबत्ता तस्वीर उतारी है, तस्वीर बनाने वाले ने!"

रेणु की कथाकृतियों के अधिकांश पात्र वास्तविक भूमि पर भी वैसी ही छवि रखने वाले हैं। आप कभी रेणु के इलाके में जाइये तो लोग बतायेंगे 'मैला आँचल' या 'परती परिकथा' या अमुक कहानी के अमुक पात्र ये हैं, वे हैं आदि। रेणु

और उनकी रचनाओं से उस क्षेत्र के अधिकांश लोग परिचित हैं। 'मैला आँचल' के प्रकाशनोपरांत धर्मवीर भारती ने जो यह उदघोषणा कर दी थी कि 'गद्य में भी मिथिला की भूमि विद्यापति पैदा कर सकती है, यह मुझे विश्वास हो गया।" और मैंने देखा कि अपने जनपद में रेणु विद्यापति की तरह ही व्याप्त हैं।

'मैला आँचल' की अपार लोकप्रियता के कारण बिहार के कई तथाकथित लेखकों में उनके प्रति ईर्ष्या-द्वेष का भाव उदित हुआ और वे रेणु पर और उनकी रचनाशीलता पर तरह-तरह के आरोप लगाते-फिरते। दिसम्बर, 1955 में, जबकि रेणु की सफलता की गाथा इस छोर से उस छोर तक फैल रही थी, बिहार से ही यह 'व्हिस्परिंग कैंपेन' आरम्भ हुआ कि 'मैला आँचल' बंगाली के प्रसिद्ध लेखक सतीनाथ भादुड़ी की कृति 'ढोंढाई चरितमानस' का अनुवाद है। ..." जो साहित्यकार महोदय रेणु पर आरोप लगा रहे थे, उन्होंने भादुड़ी जी से इस सन्दर्भ में पत्राचार किया। भादुड़ी ने उनके पत्र का उल्लेख करते हुए रेणु को बंगला में पत्र लिखा, जिसका हिन्दी अनुवाद इस प्रकार है: प्रियवर, आपका पत्र अभी मिला। कुछ दिन पूर्व किसी हिन्दी साहित्यिक ने 'ढोंढाई चरितमानस' और आपकी पुस्तक के सामंजस्य के विषय में एक प्रश्नात्मक पत्र लिखा था। उनके पत्र के उत्तर में मैंने लिखा था कि मेरी पुस्तक की विषयवस्तु है 1905 से 1945 ई॰ का समाज और आपकी पुस्तक का विषय है 1946 ई॰ के बाद की सामाजिक स्थिति। इस कारण सामंजस्य का प्रश्न ही नहीं उठता। पत्र लेखक का नाम है श्री ....। मौखिक प्रचार के विरूद्ध लिखित प्रचार करने की क्या बहुत ही आवश्यकता है? अभियोग का लिखित उत्तर देने की अपेक्षा तो यही अच्छा होगा कि हम अपनी ओर से उस हिन्दी पत्र में उसका प्रतिवाद करें। .... जी क्या आपके मित्र हैं? मित्र होने के नाते तो वे अपने पत्र में इन बातों को स्थान दे सकते हैं। 'ढोंढाईचरित मानस' का अनुवाद यदि हिन्दी में हो जाए तो इस विवाद का अन्त ही हो जाएगा। इस तरह की कुछ व्यवस्था होनी चाहिए। साहित्यिक का विचार आखिर साहित्य द्वारा ही होगा। नमस्कार स्वीकार करें सतीनाथ।

ओमप्रकाश जी ने भी भादुड़ी जी को एक पत्र लिखा, जिसका उत्तर भादुड़ी जी ने अंग्रेजी में उन्हें दिया था- "आपके पत्र के लिए धन्यवाद। मैं समझता हूँ कि आप में से किसी ने भी मेरी पुस्तक 'ढोंढाईचरित मानस' नहीं पढ़ी है। 1905 से 1945 तक की तुलना से एक पिछड़े हुए वर्ग में सामाजिक और राजनीतिक जागृति को इस उपन्यास में करने का प्रयास किया गया है, जबकि 'मैला आँचल' में 1945 के बाद की घटनाओं के बारे में लिखा गया है। दोनों की कथावस्तु भिन्न है। (cover different grounds)। दोनों की कथ्य-गाथा अलग-अलग है (own-

story to tell)। 'मैला आँचल' एक मौलिक कृति (original) है और इसके लेखक पर चोरी का आरोप लगाना नितान्त अन्यायपूर्ण (grossly unfair) होगा।"

रेणु के विरोधी अब भी यत्र-तत्र उन पर यह आरोप लगाते दीख जाते हैं, इसीलिए इस प्रसंग को संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया गया। 'ढोंढाईचरित मानस' का हिन्दी अनुवाद प्रकाशित हुए कई वर्ष हो गये हैं। हिन्दी के पाठकों को इन दोनों उपन्यासों को एक साथ पढ़कर फैसला करना चाहिए कि इस आरोप में कितनी सत्यता है।

'मैला आँचल' स्वातंत्र्योत्तर कथा-साहित्य की सबसे बड़ी उपलब्धि है। अब तक हिन्दी में इसके समान विराट विज़न या विस्तृत परिदृश्य के बहुत कम उपन्यास लिखे गये हैं। इस पर अनेकों खारिज करने वाले तीखे लेख लिखे जा चुके हैं फिर भी इसका महत्व आज तक अक्षुण्ण बना हुआ है और अभी यह उपन्यास प्रमुख कथा-समीक्षकों को नई दृष्टि से मूल्याकंन के लिए आकर्षित करता है। 'मैला आँचल' धरतीपुत्रों की सिर्फ व्यथा-कथा प्रस्तुत करने वाला उपन्यास ही नहीं है, न सिर्फ भूमि संघर्षों को उजागर करने वाला और न सिर्फ लोक-संस्कृति की रंगारंग अर्थ-छवियाँ प्रस्तुत करने वाला उपन्यास। अपितु यह भारत की राष्ट्रीय समस्याओं को प्रस्तुत करने वाला एवं बदलते हुए राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक मूल्यों पर गहरी नजर रखने वाला भी है। प्रकारान्तर से यह आंचलिक होते हुए भी देश की वास्तविक छवि को प्रस्तुत करता है। हिन्दी में बहुत कम ऐसी कथा-कृतियाँ हैं जो अपनी स्थानीयता या स्थानीय रंग के कारण याद तो की जाती ही हो साथ ही जो अपनी संकेतात्मकता या मूल आशय में इतनी बड़ी परिव्याप्ति लिए हुए हो। 'मैला आँचल' में उस ऐतिहासिक काल को लिया गया है जब द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद हिन्दुस्तान में काँग्रेस की 'मिनिस्टरी' बनती है, आजादी मिलती है, विभाजन होता है, दंगे होते हैं, गाँधी की हत्या होती है। भारतीय राजनीतिक पार्टियों की आपसी दलबंदी, उठा-पटक, सत्तालोलुपता और पतनशीलता के यथार्थ चित्र भी इस उपन्यास में मिलता है। ये सभी बातें 'मैला आँचल' को आंचलिकता की सीमा से ऊपर उठाती है। प्रसिद्ध कथाकार निर्मल वर्मा के शब्दों में कहें- "रेणु का महत्त्व उनकी आंचलिकता में नहीं, आंचलिकता के अतिक्रमण में निहित है। बिहार के एक छोटे भू-खण्ड की हथेली पर उन्होंने समूचे उत्तरी भारत के किसान के नियति-रेखा को उजागर किया था। यह रेखा किसान की किस्मत और इतिहास के हस्तक्षेप के बीच गुंथी हुई थी।"

लांजाइनस ने उदात्त-तत्व की स्थापना करते हुए लिखा है- "वास्तव में महान रचना वही है जो बार-बार कसौटी पर कसी जाने पर भी सदा खरी उतरे,

जिससे प्रभावित न होना कठिन ही नहीं, लगभग असंभव हो जाए और जिसकी स्मृति इतनी प्रबल और गहरी हो कि मिटाये न मिटे।" और 'मैला आँचल' एक ऐसा ही उपन्यास है, जिसके प्रकाशन 1954 से लेकर 2004 तक यानी पचास वर्षों में लगातार मूल्यांकन-पुनर्मूल्यांकन की कोशिश होती रही है। यह एक ऐसी कृति है जिस पर अनेक तरह के बहस और विवाद भी होते रहे हैं। 'मैला आँचल' के प्रकाशन के बाद पहली बाद प्रेमचंद की परम्परा पर बहस हुई। आंचलिकता को लेकर वाद-विवाद हुए। साहित्य में नैतिकता का सवाल उठाकर अश्लीलता पर बहस हुई। रेणु को जीवन-दर्शन एवं विचारधारा विहीन लेखक मानते हुए कई मार्क्सवादी आलोचकों ने उन्हें प्रतिक्रियावादी लेखक तक सिद्ध करने की कोशिश की, किन्तु 'मैला आँचल' बार-बार कसौटी पर कसी जाती रही और इसने हर पीढ़ी के पाठक-आलोचक को प्रभावित किया। राजनीतिक मतवाद से ऊपर उठकर जिन आलोचकों ने भी इस पर लिखा, इसकी महानता को रेखांकित किया। अपने पचास वर्षों की इस यात्रा ने यह प्रमाणित किया कि यह एक कालजयी कृति है। एक ऐसा उपन्यास जिसके उत्कर्ष तक बहुत कम उपन्यास पहुँच पाये। आने वाली कथा-पीढ़ियों के सामने आज भी चुनौती बरकरार है कि 'गोदान' और 'मैला आँचल' के समानान्तर कोई उपन्यास लिखे।

हर महान कृति अपनी परम्परा से चली आती लेखन की व्यवस्था (system) से सिर्फ अपने को विलग कर सिर्फ न लिखी जाती, अपितु अपने समकालीनों के बीच भी वह अलग से पचान ली जाती है। यानी उसका व्यक्तिगत या निजी व्यक्तित्व इस तरह निर्मित होता है कि वह एक अपना अद्वितीय, अनुपम एवं प्रेरणादायी स्वरूप ग्रहण करता है। आजादी के पहले के उपन्यासों के बीच 'गोदान' ऐसा ही उपन्यास है और आजादी के बाद के उपन्यासों के बीच 'मैला आँचल'। नयी कविता में सबसे अलग, सबसे विरल और विराट व्यक्तित्व जिस तरह गजानन माधव मुक्तिबोध का है, वैसा ही नये कथाकारों के बीच फणीश्वरनाथ रेणु का। ये दोनों ही रचनाकार अपने समकालीनों के बीच एक नया शिल्प, नयी भाषा एवं विषय-वस्तु लेकर उपस्थित हुए एवं नयी कविता एवं नयी कहानी की जड़ीभूत सौंदर्याभिरुचि को तोड़ते हुए एक गतिशील जीवन यथार्थ के बहुस्तरीय परतों को उघाड़कर एक अलग दृष्टिकोण से देखते हुए उसे अभिव्यक्ति दी। रेणु अभिव्यक्ति का खतरा उठाने वाले लेखक हैं। अन्याय का प्रतिरोध करने वाले लेखक हैं। किसी सत्ता-प्रतिष्ठान या मठ में बैठकर क्रांतिकारिता बघारने वाले रचनाकार नहीं हैं।

रेणु ने 'मैला आँचल' शीर्षक सुमित्रानन्दन पंत की 'भारत माता' कविता की निम्न पंक्तियों से लिया है-

भारत माता ग्रामवासिनी।
खेतों में फैला है श्यामल
धूल भरा मैला-सा आँचल
मिट्टी की प्रतिमा उदासिनी
भारत माता ग्रामवासिनी।

पंत की 'ग्राम्या' नामक कविता-संग्रह में यह कविता संकलित है। 'ग्राम्या' हिन्दी का पहला कविता-संग्रह है, जिसमें ग्रामीण जीवन के बहुआयामी जीवन के अनेक प्रभावशाली रेखाचित्र हैं। रेणु इन कविताओं से बेहद प्रभावित थे। 'मैला आँचल' की रचना का आधार है- 'भारत माता' जो गाँव में निवास करती है, उसका मैला आँचल धूल से भरा हुआ श्यामल है जो खेतों में फैला हुआ है। इस तरह रेणु ने गाँव के जीवन को चित्रित करते हुए भारत माता का चित्र ही उकेरा है। इसीलिए कहा जाता है कि रेणु जितने आँचलिक हैं, उतने ही राष्ट्रीय। रेणु की आंचलिकता या क्षेत्रीयता उनकी सीमा नहीं, शक्ति है, जिसके द्वारा वे राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय प्रश्नों से जूझते हैं। "साम्राज्य-लोभी शासकों की संगीनों के साये में वैज्ञानिकों के दल खोज कर रहे हैं, प्रयोग कर रहे हैं। .... गंजी खोपड़ियों पर लाल-हरी रोशनी पड़ रही है।... मारात्मक, विध्वंसक और सर्वनाशा शक्तियों के सम्मिश्रण से एक ऐसे बम की रचना हो रही है जो सारी पृथ्वी को हवा के रूप में परिणत कर देगा..... ऐटम ब्रेक कर रहा है मकड़ी के जाल की तरह! चारों ओर एक महा-अंधकार! सब वाष्प! प्रकृति-पुरुष... अंड-पिंड! मिट्टी और मनुष्य के शुभचिंतकों की छोटी-सी टोली अंधेरे में टटोल रही है। अंधेरे में आपस में टकराते हैं।... वेदांत.... भौतिकवाद... सापेक्षवाद.... मानवतावाद!.... हिंसा से जर्जर प्रकृति रो रही है। व्याध के तीर से जख्मी हिरण-शावक-सी मानवता को पनाह कहाँ मिले? " यह है 'मैला आँचल' की अन्तरराष्ट्रीय चिंता! चारों ओर निराशा का माहौल है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूरी दुनिया में यह स्थिति बरकरार थी। ऐसे में 'मैला आँचल' में आशा का एक दिया टिमटिमाता हुआ जल रहा है, जो आश्वस्त भी करता है- "विधाता की सृष्टि में मानव ही सबसे बढ़कर शक्तिशाली है। उसको पराजित करना असंभव है, प्रचंड शक्तिशाली बमों से भी नहीं। ... पागलों! आदमी आदमी है, गिनीपिग नहीं। ... सबारि ऊपर मानुस सत्य।" 'मैला आँचल का उद्देश्य है- "मिट्टी और मनुष्य से मुहब्बत।" और "आँसू से भींगी हुई धरती पर प्यार के पौधे लहलहाएँगे। मैं साधना करूँगा, ग्रामवासिनी भारत माता के मैले आँचल तले!

कम-से-कम एक ही गाँव के कुछ प्राणियों के मुरझाए ओठों पर मुस्कुराहट लौटा सकूँ, उनके हृदय में आशा और विश्वास को प्रतिष्ठित कर सकूं।" उद्देश्य यह है कि दु:खी-विपन्न जन-जीवन को सुखी-सम्पन्न बनाना। उनके बीच मानवता का प्रेम और भ्रातृत्व का बीज बोना। वह तभी संभव है जब मिट्टी से, धरती से और उसमें रहने वाले लोगों से प्रेम किया जाए। 'मैला आँचल' में यह वाक्य बार-बार आता है- भारत माता जार-जार रो रही हैं। ऐसा क्यों है? भारत माता सिर्फ दु:ख-दरिद्र के कारण नहीं रो रही हैं। वह इसलिए रो रही हैं कि सत्ता पर अवैध तत्त्व हावी हो रहे हैं। स्वाधीनता की लड़ाई में घर-बार त्यागकर संघर्ष करने वाले उपेक्षित हो रहे हैं और भ्रष्ट, धन-लोलुप लोग जन-नायक बन रहे हैं। बावनदास की यह वाणी आजादी के बाद के हिन्दुस्तान का एक कटु यथार्थ है- "बिलैती कपड़ा के पिकेटिंग के जमाने में चानमल-सागरममल के गोला पर पिकेटिंन के दिन क्या हुआ था, सो याद है तुमको बलदेव? चानमल मड़वाड़ी के बेटा सागरमल ने अपने हाथों सभी भोलटियरों को पीटा था। जेहल में भोलटियरों को रखने के लिए सरकार को खर्चा दिया था। वही सागरमल आज नरपतनगर थाना काँग्रेस का सभापति है और सुनोगे? .... दुलारचंद कापरा को जानते हो न? वही जुआ कंपनी वाला, एक बार नेपाली लड़कियों को भगाकर लाते समय जो जोगबनी में पकड़ा गया था वह कटहा थाना का सिकरेटरी है। ... भारत माता और भी, जार-बेजार रो रही हैं।" जातिवाद का विष समाज में ही नहीं घुल रहा है, बल्कि यह सभी राजनीतिक पार्टियों में भी परिव्याप्त है। कांग्रेस पार्टी के बारे में बावनदास सोचता है- अब लोगों को चाहिए अपनी-अपनी टोपी पर लिखवा लें- भूमिहार, राजपूत, कायस्थ, यादव, हरिजन। ..." सोशलिस्ट पार्टी के जिला मंत्री कालीचरण से मेरीगंज गाँव की जानकारी इस प्रकार लेते हैं- "अच्छा कॉमरेड, आपके गाँव में सबसे ज्यादा किस जाति के लोग हैं? ... यादव! ठीक है। भूमिहार? .... एक घर भी नहीं? गुड!!" बालदेव का मानना है- "जाति बहुत बड़ी चीज है। .... जाति की बात ऐसी कि सभी बड़े लीडर अपनी-अपनी पाटी की जाति में हैं.... यह तो राजनीति है।" गाँव की राजनीति से लेकर देश की समग्र राजनीति में यह जातिवाद व्याप्त है। बावनदास इस यथार्थ को इस प्रकार व्यक्त करता है- "भूमिहार, वैश्य राजपूत, जादव, हरिजन सब लड़ रहे हैं- अगले चुनाव में तिगुने मेले (एम.एल.ए.) चुने जायेंगे। किसका आदमी ज्यादा चुना जाए, इसी की लड़ाई है। ....." यह है- 1947 ई॰ के आसपास के भारत का माहौल! इसीलिए भारत माता रो रही है। आजादी के साथ ही हिन्दू-मुस्लिम दंगों से देश की धरती लहूलुहान हो जाती है। बावनदास कहता है- "दंगा हो रहा है। सुनते हैं कि दिल्ली, कलकत्ता, नखऊ (लखनऊ), पटना

सब जगह हिन्दू-मुसलमान में लड़ाई हो रही है।" 'मैला आँचल' आजादी की त्रासदी की गहराई से पड़ताल करता है और उसकी विडंबना को उजागर करता है। आजादी की निरर्थकता इसलिए है कि देश की जनता भूखी है। देश की जनता भूखी इसलिए है कि रक्तपायी वर्ग का समाज पर, पूंजी पर, सत्ता पर वर्चस्व कायम हो गया है। इस तरह 'मैला आँचल' आँचलिक लोकगीतों, लोक कथाओं, लोक जीवन या लोक संस्कृति को ही सिर्फ उजागर नहीं करता, वरन राष्ट्रीय समस्याओं और, राष्ट्रीय प्रश्नों को प्रबल ढंग से उठाता है। उसके लेखक को यह बात सबसे अधिक उद्वेलित करती है कि भारतमाता रो रही है। जिन प्रश्नों को भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने उन्नीसवीं शताब्दी में 'भारत-दुर्दशा' में उठाया था, रेणु ने 'मैला आँचल' में उन्हें विस्तार दिया है। 'मैला आँचल' आँचलिक होते हुए भी, लोक-संस्कृति से संपृक्त होते हुए भी राष्ट्रीय समस्याओं से अछूता नहीं है। यह आँचलिकता और राष्ट्रीयता के दोनों छोरों पर एक साथ खड़ा होता है। आँचलिक जीवन में रचा-बसा होने पर भी इसने राष्ट्रीय सवाल उठाये हैं और, उन सवालों के यथार्थ के बहु-स्तरीय परतों को उघाड़कर उठाया गया है।

रेणु ने 'टूटते-बिखरते सपनों की दास्तान' में बताया है-" 'मैला आँचल' मेरा पहला उपन्यास हुआ। साहित्यिकों ने मुझे पीढ़ा-पानी ही नहीं दिया, यानी पंगत में ही नहीं बिठाया, बल्कि अगली पंगंत में बिठाया और बहुत धूम-धाम से बिठाया! मेरा हौसला बढ़ा। आलोचनाएँ छपने लगीं, प्रशस्तियाँ हुईं, फिर प्रत्यालोचना! किसी भी लेखक के लिए पागल हो जाने वाली स्थिति होती है, अगर उसकी पहली ही चीज इस तरह हाथों-हाथ ले ली जाए। मगर मैं पागल नहीं हुआ। इसका कारण यह था कि उन प्रशस्तियों और प्रत्यालोचनाओं के बीच कुछ बातें अंदर-ही-अंदर पक रही थीं।"

यह सही है कि 'मैला आँचल' को 'गोदान' के बाद का सबसे महत्वपूर्ण उपन्यास माना गया। किन्तु, उसकी धज्जियाँ उड़ा देने वाली आलोचना भी कम नहीं हुई। लक्ष्मीकांत भारतीय एवं नरोत्तम नागर ने बहुत सारे उदाहरण देकर उसे एक विकृत यथार्थ का उपन्यास सिद्ध किया, जिसमें व्यापक तौर पर यौन-संबंधों का चित्रण था। बिहार के ही कुछ लेखकों ने यह अफवाह फैलाई कि 'मैला आँचल' बांग्ला लेखक सतीनाथ भादुडी के उपन्यास 'ढोंढ़ाईचरित मानस' का अनुवाद या कार्बन कॉपी है। फिर रेणु की जाति की खोज हुई। रेणु धानुक जाति के पहले लेखक थे। इस कारण भी बिहार में उनकी उपेक्षा होनी शुरू हुई। उन्होंने लिखा है- "मैं गाँव छोड़कर पटना में था, तो पटना छोड़कर इलाहाबाद चला गया। वह भी यह देखने के लिए कि सारा हिन्दुस्तान अपना है या नहीं! पढ़ने के समय बनारस

हिंदू यूनिवर्सिटी में ऐसा लगता था सारा हिन्दुस्तान अपना है। लेकिन इस दौरान आजादी के बाद ऐसा माहौल हुआ था कि अपने ही प्रांत में मैं उत्तर का हूँ या दक्षिण का, पूरब बिहार का हूँ या दक्षिण बिहार का या इस जाति का हूँ या उस जाति का- यह बात आम हो रही थी।" इलाहाबाद में रेणु प्रगतिशील लेखक संघ की बैठकों में भी गये और समाजवादियों द्वारा निर्मित परिमल की गोष्ठियों में भी। और दोनों में रेणु की जाँच की गयी। रेणु ने लिखा है- "मतलब यह कि यहाँ भी वही बात थी कि अपना अगर कोई मुखौटा हो, तो खोलो। अपने पास कोई मुखौटा था नहीं जो मैं खोलता। मैं मुकम्मिल आदमी हूँ, हाथ में मेरी कलम है और मैं लिखता हूँ। अगर मैं प्रेम-कहानियाँ लिखता होता, अगर मेरा पहला उपन्यास प्रेम-उपन्यास होता, तो बात और होती। किताब गवाह है, मैंने बुनियादी सवाल उठाये थे। ... आजादी के तुरंत बाद की बात है। मेरा एक गाँधीवादी पात्र है – बौना। गाँधीजी की मृत्यु के बाद उसका दिल इतना टूटता है कि वह निर्मोही हो जाता है। वह अपने माहौल को देखता है और कहता है कि सभी लोग एम.एल.ए. होना चाहते हैं। इलाके को कौन देखेगा? आम लोगों के सुख-दुख की बात कौन सुनेगा? वह जो कुछ अपने चारों ओर देखता है, उससे उसको चोट लगती है। वह कहता है कि अब हर काँग्रेसी को अपनी-अपनी टोपियों पर लिख लेना चाहिए- भूमिहार कांग्रेसी, ब्राह्मण कांग्रेसी, कायस्थ कांग्रेसी, राजपूत कांग्रेसी। इतना ही नहीं, वह गांधीजी के मरने के बाद कहता है- अब कौन रह गया है? एक जयप्रकाश बाबू हैं, उनको भी कोई किसी दिन गोली मार देगा। और जिस दिन आजादी का जश्न मनाया जा रहा था, शहरों और कस्बों में फुलझड़ियाँ छूट रही थीं, तब वह अकेला बौना हिन्दुस्तान और पाकिस्तान की सीमा पर स्मगलरों की गाड़ी के नीचे दबकर मर गया- दबाकर मार दिया गया। बैलगाड़ियाँ उस पर से पार हो गयीं, उसकी हड्डी पटपटाकर रह गयी।... हिन्दुस्तान-पाकिस्तान की सीमा पर नागर नदी होती है। स्मगलरों ने उसे उठाकर उस पार पाकिस्तान में फेंक दिया। पाकिस्तानी सिपाही जब गश्त लगाने आये तो उन्होंने पहचाना कि अरे यह तो उस पार का बौना है। इधर किसलिए मारकर फेंक दिया? अब बेकार रिपोर्ट-विपोर्ट लिखने की जरूरत हो जाएगी, फेंको इसको उस पार! उन लोगों ने उसको बीच नदी में डाला और उसके बैग को एक पेड़ में बांधकर लटका दिया। मैंने लिखा- "उस बौने ने फिर से दो देश की ईमानदारी को दो ही डग में नाप लिया।" यह मेरा दु:ख था। यह मेरा दर्द था। मैं समझता हूँ कि मेरा 'मैला आँचल' बहुत पैथेटिक या दुखांत उपन्यास है, लेकिन उसमें एक प्रेम-कथा भी है- उसका सुखांत अंत हुआ है। इसका मतलब यह है कि एक भरोसा है- उम्मीद है- आशा है।"

'मैला आँचल' का सबसे प्रभावशाली पात्र है- बावनदास। वह एक संत हृदय का, वैरागी मन का पात्र है, जो अपने देश और अपनी धरती से इतना लगाव रखता है कि उसे वीभत्स और कुरूप बनाने वाली शक्तियों से अकेला लड़ता रहता है। वह स्वाधीनता के संघर्ष में लगातार सक्रिय रहता है और स्वाधीनता के बाद अपनी मातृभूमि के लिए शहीद हो जाता है। इसके चित्रण में रेणु ने अपनी पूरी आत्मा उडेल दी है। यही कारण है कि उसकी स्मृति 'चेथरिया पीर' के रूप में बनी रह जाती है। 'मैला आँचल' की समाप्ति नये शिशु नीलोत्पल के जन्म-दिवस के महोत्सव एवं उसकी किलकारियों के रूप में होती है। किन्तु रेणु उपन्यास का अंतिम वाक्य बावनदास, जो अब 'चेथरिया पीर' के रूप में लोक-जन-मानस में परिव्याप्त है, उसे याद करते हुए लिखते हैं- "कलीमुद्दींपुर घाट पर चेथरिया-पीर में किसी ने मानत करके एक चीथड़ा और लटका दिया।"

'मैला आँचल' के अंतिम अध्याय में तहसीलदार का हृदय-परिवर्तन होना और गाँववालों को उनकी हड़पी हुई जमीन लौटा देना, एक ऐसा प्रसंग है जिसे अधिकांश आलोचकों ने इस उपन्यास का एक कमजोर पक्ष माना है। ललितांशुमयी, जिन्होंने उनके जीवनकाल में ही उनके कथा-साहित्य पर शोध-कार्य किया था, एक बातचीत में उनसे पूछा- " 'मैला आँचल' में विश्वनाथ प्रसाद के चरित्र में जो आदर्श भाव दिखाया गया है, वह क्या आरोपित है या कि परिस्थितियों के दबाव के कारण उन्हें आदर्शवादी बनना पड़ता है?" इस पर रेणु ने जो स्पष्टीकरण दिया है, वह ध्यान देने योग्य है- "यह आदर्शभाव परिस्थिति के प्रभाव से सर्वत्र स्वाभाविक हो उठा है। सबसे पहले, विश्वनाथ प्रसाद एक मुनीम किस्म के आदमी हैं। जब उन्होंने समझा कि इस जमीन को ज्यादा दिनों तक अपने अधिकार में नहीं रखा जा सकेगा, क्योंकि जमींदारी प्रथा खत्म हो गयी और जमीन की बन्दोबस्ती दूसरे ढंग से होने वाली थी, तो उन्होंने सबको पाँच-पाँच बीघा जमीन दान में दे दी। ऐसा करने पर ग्रामवासियों की नजर में वे काफी ऊपर उठ गये। सबसे बड़ी बात कि उनकी बेटी कमला के लिए लड़का मिल जाता है जिसकी तलाश वे पिछले कई वर्षों से कर रहे थे। कोई तैयार नहीं हो रहा था। इसके अलावा कमला की शादी के लिए उन्हें कम-से-कम बीस हजार रूपये खर्च करने पड़ते। यदि डॉक्टर शादी करने से अस्वीकार करता, तो कमला की शादी से पूर्व गर्भवती हो जाने के कारण उनकी इज्जत मिट्टी में मिल जाती। फलस्वरूप डॉक्टर जैसे ही दामाद बनना स्वीकार लेता है, यह मान लेना पड़ेगा कि पापहारिणी गंगा स्वयं आकर उसके पापों को धो जाती हैं और वे भी पूरी तरह निश्चिंत हो जाते हैं। आनंद के इस सघन क्षण में यदि थोड़ी-सी उनकी उदारता

प्रकट हो जाती है, तो यह यथार्थ कारणों से ही होती है, जो मानव स्वभाव के अनुकूल है। फिर हम यह भी देखते हैं कि भूदान यज्ञ में लोग हजारों बीघा जमीन दान करते हैं। यह उदारता या हृदय-परिवर्तन परिस्थिति के प्रभाव से ही होता है। यह कहीं से भी आरोपित नहीं है।" (रेणु के साथ, पृष्ठ: 35-36) 'मैला आँचल' में तहसीलदार विश्वनाथ प्रसाद के शब्द देखिए- "सुमरितदास! लोगों से कह दो .... हरेक परिवार को पाँच बीघा के दर से जमीन मैं लौटा दूँगा। साँझ पड़ते-पड़ते मैं सब कागज-पत्तर ठीक कर लेता हूँ। ..... और संथाल टोली में जाकर कहो .... वे लोग भी आकर रसीद ले जाएँ। एक पैसा सलामी या नजराना, कुछ भी नहीं! अरे, मैं क्यों दूँगा? दे रहा है नया मालिक! .... मालिक साहब का हुकुम है, सुनते हो कि नहीं! रो रहा है वह! वह हुकुम दे रहा है। लौटा दो! दे दो, खेलावन को उसकी जमीन का सब धान दे दो।" यानी तहसीलदार साहब कमली के शादी के पूर्व के कमली के रह गये गर्भ से उत्पन्न बच्चे को वैध ठहराने के लिए ताकि गाँव में अपयश न फैले, उस बच्चे के नाम पर यह दान कर रहे थे। फिर वह जमीन उनसे शीघ्र ही छिन भी जाती। उसके बाद वे प्रशांत को समझाते हुए कहते हैं- "मुँह क्या देखते हो? मुझे पागल समझते हो? ठीक है, पागल क्यों नहीं समझोगे? योगेश्वर कृष्ण ने अपनी सारी विद्याबुद्धि लगाकर कोशिश की, मगर दुर्योधन ने साफ कह दिया- सूई की नोक पर जितनी मिट्टी चढ़ती है उतनी भी नहीं दूँगा।.... जमीन! .... धरती! एक इंच जमीन के लिए हाईकोर्ट तक मुकदमा लड़ते हैं लोग! और मैं सौ बीघे जमीन दे रहा हूँ। पागल तो तुम लोग हो! अरे, यह जमीन तो उन्हीं किसानों की है, नीलाम की हुई, जब्त की हुई, उन्हें वापस दे रहा हूँ।.... " यानी तहसीलदार साहब में आया यह कोई हृदय-परिवर्तन नहीं है, अपितु बहुत सोच-समझ कर किया गया उनका फैसला है। इसके पीछे बदनामी से बचना है और लोगों के मुँह को बन्द भी करना है। रेणु का दूसरा उपन्यास 'परती-परिकथा' सर्वे-सेट्लमेंट से शुरू होता है यानी जमीन को अवैध ढंग से कब्जा कर रखना अब मुश्किल है। इसलिए तहसीलदार का यह प्रसंग यथार्थवाद से जुड़ा है, न कि आदर्शवाद से। तहसीलदार आदर्शवादी पात्र प्रारम्भ से ही नहीं है, फिर अचानक उसमें आदर्शवादिता का आ जाना, उपन्यास की दृष्टि से एक कमजोर प्रसंग होता।

नामवर सिंह का मानना है कि 'मैला आँचल' हिन्दी उपन्यास के इतिहास में घटना है। भाषा और रूप-विधान में नयापन तो है ही, आजादी के बाद के भारत के मिजाज को व्यक्त करने वाला यह पहला उपन्यास है- आजादी के बाद बदलते हुए गाँवों की तस्वीर और इसके बीच गांधीवादी बावनदास की शहादत ध्यान देने

योग्य है। (कहना न होगा, पृष्ठ- 223) 'मैला आँचल' के प्रकाशन के बाद 1954 में ही लिखित अपने लेख- 'समाज, साहित्य और लेखक का व्यक्तित्व' (जो उनकी पुस्तक 'इतिहास और आलोचना' में संकलित है) में नामवर सिंह ने 'मैला आँचल' की चर्चा की है। उनका मानना है कि रेणु का आविर्भाव एक निश्चित ऐतिहासिक परिस्थिति का परिणाम है। इसी तरह हर लेखक की प्रतिभा एक निश्चित परिस्थिति और परम्परा की उपज होती है। "अभी-अभी एकदम नये लेखक फणीश्वरनाथ रेणु का उपन्यास 'मैला आँचल' निकला है। उपन्यास पढ़ते ही कौतुकी लोग चौंक उठे और विस्मयादि बोधक स्वर में 'प्रतिभा-प्रतिभा' चिल्लाने लगे। कुछ लोगों ने तो यहाँ तक भविष्यवाणी कर दी कि रेणु अब ऐसी अथवा इससे अच्छी रचना न कर सकेंगे। इनके कहने से भी ऐसा ही लगता है गोया यह कृति अचानक बन पड़ी है। परन्तु रेणु का यह उत्थान क्या सचमुच आकस्मिक है?" नामवर जी ने यह जो प्रश्न उठाया है, वह मेरे भीतर भी कभी उठा था और जब मैंने 'मैला आँचल' के पूर्व की उनकी रचनाओं की खोज की तो वे विपुल रचनाएँ मिलीं, जो 1944 से ही प्रकाशित हो रही थीं और जन-संघर्षों में भाग लेने वाले रेणु और उनकी अथक साधना मिली, जिसका अग्रिम चरण 'मैला आँचल' था। रेणु की 'मैला आँचल' के पूर्व की रचनाओं से उनके अभूतपूर्व रचना-कौशल, विराट जन-जीवन की अपने अन्तर्विरोधों सहित अभिव्यक्त करने की क्षमता का पता चलता है। अतः रेणु की प्रतिभा अचानक पैदा नहीं हो गयी और उन्होंने अचानक 'मैला आँचल' जैसा महान् उपन्यास नहीं लिखा, जिसे एक ऐतिहासिक घटना की तरह लिया गया। इसके पीछे एक प्रदीर्घ साहित्य-साधना थी, साथ ही मनुष्य और समाज को बहुत गहराई से देखने का परिणाम था। नामवर जी ने आगे लिखा है- "लेखक ने इसमें मिथिला के एक गाँव का सर्वांगीण जीवन इतने सजीव रूप में उपस्थित किया है कि हम दंग रह जाते हैं। यही रेणु की विशेषता है, क्योंकि रेणु से पहले किसी अन्य व्यक्ति ने यह कार्य इतनी सफलता से नहीं किया था।... रेणु की विशेषता यही है कि उन्होंने मिथिला के ग्रामीण जीवन को औरों से अधिक अच्छी तरह समझा है और समझकर उसे साहित्य में बदल दिया है। सवाल यह है कि उन परिस्थितियों को इस एक लेखक ने ही इतना क्यों समझा? जाहिर है कि औरों की अपेक्षा वह इन परिस्थितियों को समझने की स्थिति में अधिक था। लेकिन स्वयं उस गाँव के रहने वाले, किसान तो लेखक से अधिक उस परिस्थिति में है फिर उन्होंने अपनी स्थिति को इस तरह समझकर 'उपन्यास' क्यों नहीं लिखा? .... क्योंकि वे खेती करते हैं और उन्हें इतनी फुरसत और सुविधा नहीं है कि अपनी बुद्धि का विकास इस दिशा में कर सकें। मेहनत और पेशे का बंटवारा हो जाने के

कारण लेखक ने सोचने-विचारने और पढ़ने-लिखने के क्षेत्र में अपना विकास कर लिया है।" मतलब यह है कि रेणु में किसानों या ग्रामीण जीवन का जो गहरा अनुभव है, वह उनके बीच रहकर पैदा हुआ, तथा लेखकीय प्रतिभा का विकास निरन्तर पढ़ने-लिखने से। रेणु हिन्दी के पहले बड़े कथाकार थे जिनकी जीविका का आधार कृषि था। वे खेती के दिनों में गाँव में रहकर एक कृषक का जीवन जीते थे और शेष समय पटना में रहकर एक लेखकीय जीवन बिताते थे। इसीलिए उनके कथा-साहित्य में ग्रामीण जीवन के इतने विविध और प्रगाढ़ चित्र मिलते हैं। साथ ही उनमें आम आदमी के पक्ष में खड़ी एक राजनीतिक चेतना भी विद्यमान मिलती है, वह उनमें लगातार किसान-मजदूर संघर्षों एवं कई राष्ट्रीय आन्दोलनों में भाग लेने के कारण। 'अन्याय के दिव्य प्रतिवाद से ज्वलित' उनका जीवन किसी झंडे या डंडे को हाथ में लेकर उपस्थित नहीं होता, किसी भ्रष्ट राजनीति का हिमायती नहीं बनता, अपितु आम जन के पक्ष में खड़ा होता है। इसी आम जन जिसे किसान कह लें या मजदूर इससे एकाकार होकर उन्होंने अपनी कथा-कृतियों का सृजन किया है।

रेणु का विश्वास है कि घृणित-कदर्य-अश्लील पशुता पर मंगलकामना का जयघोष गूंजेगा' और एक दिन आंसू से भींगी हुई धरती पर प्रेम के पौधे लहलहायेंगे और 'मैला आँचल' में रोती हुई भारतमाता की आँखों में आँसू नहीं होंगे, अपितु अधरों पर मुस्कान होगी।

माटीमानस से रची महागाथा

नित्यानंद तिवारी

हमारे उपन्यासों और साहित्य की जो परम्परा है, उसको देख जाइए। तो जो मुख्य चरित्र हैं। जैसे अपनी भूमिका तलाशते, निभाते और लड़ते हैं वो अंततः पराजित होते हैं। जो बड़ी रचनाएं हैं- लगातार बाल्मीकि रामायण से लेकर आज तक। इस उपन्यास में आछरी के मानस को समझना होगा। पर वैसे उपन्यास के आकार, प्रकृति और दमखम के दायरे के बाबत् मैं इतनी बड़ी बात नहीं सोचता। जैसा पंकज बिष्ट ने कहा है कि- इस उपन्यास की यह बहुत बड़ी चुनौती है- रचनाकार (कृतिकार) की पैठ और आंचलिकता के परिवेश को उसके द्वारा अंत तक निभा ले जाना। रचनाकार में देर तक सांस-साधने वाला यह दमखम उन्होंने जताया है, क्या मात्र यही चुनौती है? क्या ऐसा रचनाकार ही दूसरे (आंचलिक) परिवेश का इतना अनूठा उपन्यास लिख सकता है? मैं दूसरी बात कहना चाहता हूँ-जो मुझे लगता है। मैं आपको बताऊँ कि इतनी बड़ी आकांक्षा लेकर मैं अब प्रायः रचनाओं को नहीं पढ़ता। क्योंकि अब इतनी बड़ी उम्मीद लेकर हम किसी रचना को पढ़ें तो 50-60 पेज पढ़ने के बाद फिर लगता है कि कोई पढ़ने की जरूरत नहीं। लेकिन जब आप उम्मीद लेकर न चलें (यानी पूर्वग्रह मुक्त भी रहें) और खुद कृति (उपन्यास) के भीतर से उम्मीद जगने लगे। कुछ आत्मीयता उसके भीतर की आंच से मिलने लगे। महसूस हो। ऐसा लगे कि हम उस उपन्यास या अन्य कृति को पढ़ते हुए जीवन छू रहे हैं। तो मेरे लिये तो उतना ही बहुत होता है। वही अच्छा है। हरिसुमन विष्ट के उपन्यास आछरी-माछरी के संदर्भ में भी मुझे यही कहना है। इस आंचलिक उपन्यास में कई प्रसंग है जहाँ यह लगता है कि लेखक बड़ी आत्मीयता के साथ और बड़े (पूरे) सरोकार के साथ अपने आस-पास के या अपनी कथा में जो जीवन है, जो संपूर्ण-सा उसका लोक है, जो माटीमानस या मिट्टी है, उसको वह खूब पहचानता है और रचना है। तभी वह उस माटीमानस की एक महागाथा को रच भी लेता है- यही "आछरी-माछरी" की सफलता का मूल बिंदु है। यही उसकी अद्वितीयता भी है।

इस उपन्यास के फ्लैप पर एक बात लिखी गई है, जिसमें यह है कि इसकी कहानी अतीत में धंसी हुई और वर्तमान में उगी हुई है, जिसे देखा-सुना और अनुभव किया गया है। देखना और सुनना ठीक तरह से देखना, ठीक तरह से सुनना बड़ा मुश्किल काम है। मुझे एक कविता याद आ रही है। शीला सिद्धान्तकर की कविता है, जिसमें वह बताते है कि मैं जीवन को इस तरह से

पहचान रही हूँ जैसे बाजरे के पत्ते और मक्के के पत्ते में फर्क पहचान लिया जाता है। जब बाजरे के पत्ते, मक्के के पत्ते या जौ का पौधा, गेहूं का पौधा और उसके पत्ते में जब फर्क पहचाना जाने लगे तो यह समझना चाहिए कि अनुभव गहरा हो रहा है। तो देखना और सुनना मुश्किल काम है और इसका अहसास इस उपन्यास में मुझे शुरू से ही होने लगा था। इस उपन्यास के अंशों पर बड़े रचनाकार कमलेश्वर जी ने बहुत अच्छी तरह से, उन प्रसंगों का उल्लेख किया है, जिसमें 'चांदनी का हरी होना' या मोहना के जन्म का प्रसंग है। एक जगह उपन्यास में आता है कि तुलसा पंत के तीरों का सामना आछरी ने अपने अनुभव की तपाई हुई ढाल से किया। निश्चित रूप से इस उपन्यास में जो आछरी है या जो और पात्र हैं या जो लेखक है वह अपनी अनुभव पर ज्यादा भरोसा करता है। उसकी सीमाएं हो सकती हैं। उन सीमाओं का कुछ-कुछ उल्लेख हमारे मित्रों ने किया है। सिर्फ अनुभव की अपनी सीमाएं हो सकती हैं लेकिन अनुभव प्रमाणिक हैं। अनुभव 'जेनुएन' हैं ये अपने आप में बहुत बड़ी चीज़ है।

कमलेश्वर जी ने जैसे कहा कि काफी लेखन उस पर आधुनिकता के फार्मूले को चस्पा कर देने पर नकली होता चला जा रहा है। तो उस नकलीपन का, अगर आपको कहीं उसका सामना करना है तो आपके पास जो अनुभव की पूंजी है उससे सामना कर सकते हैं। एक सीमा तक तो कर ही सकते हैं। आछरी जिस भोटिया महल के घूमन्तु और कठिन जीवन-स्थितियों से उपजी है। उसमें कठिनाईयों के बीच जीना उसके अनुभव की सहजता सार वस्तु है। और यह सहजता अनुभव करना सहज है। जैसे पशुओं के साथ-मैंने कमलेश्वर जी ने जिक्र किया था मैंने फिर उसका उल्लेख किया था कि पशुओं के साथ जिस तरह का संबंध आछरी का या मनुष्य का गहरा हो सकता है, यह जो सहज अनुभव है, उसका गहरा रचाव इस उपन्यास की, जिसकी संरचना के बारे में मैं कुछ कहूं तो उसकी 'नैरेटीविटी' या कहनई में भी दिखता है। मसलन भाषा को लेकर काफी बातें कही गई। जिस भाषा में यह कहानी कही गई है, उसकी भाषा में ऐसा कुछ नहीं है, जिस पर विशेष रूप से ध्यान दिया जाए, लेकिन फिर भी देखना, सुनना, छूना और अनुभव करना बिना भाषा-कि किसी खास तकनीक के ये अगर पाठक अनुभव कर लेता है तो यह बहुत बड़ी बात है। यह एक ऐसी जीवन स्थिति है, जिसमें जीवन की औपचारिकताएं, अनौपचारिकताएं और आत्मीयता के पहलू खुलते हैं और इस उपन्यास में अनौपचारिकताएं और आत्मीयता के बहुत से प्रसंग हैं। कुछ का जिक्र किया गया है, लेकिन बहुत सारे प्रसंग हैं, उल्लेख किया जा सकता है और यह भी अपने आप में एक उपलब्धि है।

मैंने कहा था कि 'आछरी-माछरी' को पढ़ते हुए ऐसा लगता है जैसे कॉमन-सेंस वाली जो भाषा है उसमें ये उपन्यास लिखा गया है। यानी सबके भीतर सभी पात्रों के भीतर जो एक सामान्यतया कहानी सुनने का भाव होता है, उस स्तर पर, उस जमीन पर यह कहानी, यह उपन्यास चलता है और जहां मौका मिला है वह उस सामान्यता को, उस कॉमन-सेंस को लांघती भी है और विशेष में प्रवेश करती है। मैं उल्लेख करना चाहता हूं, इस उपन्यास के पृष्ठ 218 पर एक अंश है-जिसका मैं उल्लेख करूंगा- इसमें हुड़कियांणी कहीं आछरी और जुन जुनाली दानों एक सघन गहरे क्षण में हैं। वे दोनों एक दूसरे से बड़ी देर तक बातें करते रहे। जन्म जन्मांतरों की पीड़ा दबी थी उनके भीतर। प्याज के मानिन्द परतें खुलती चली जा रही थीं। कुछ ऐसा दिख नहीं रहा था, उसे सिर्फ अनुभव किया जा सकता था। शब्द उसके लिए गढ़े नहीं गए थे। शायद इसलिए आकार नहीं ले रहे थे। जुन-जुनाली से आछरी ने जितने शब्द कहे, वे हल्के और बौने प्रतीत हो रहे थे। ये बहुत पीड़ाप्रद क्षण थे। एक जगह तुरंत कहती है, उससे उभरती है, "मैं चलती हूँ। सौकियांणी जू, गांव भर की बहू बेटियां तो नहीं मर्द क्या कह रहे हैं यह जान लेती हूं। घुंघरूओं को बजाने को कहेंगे तो मन मारकर वैसा ही करूंगी।" आछरी कहती है, "दिल क्यों छोटा करती पगली, और फिर इन लोगों ने हुड़कियाणी का संबोधन तुम्हारे आंचल में बांध दिया है। तू जब भी जिस हालत में नाच मुजरा करे स्वयं को कभी नहीं भूलना।" अब दोनों एक तरह से समाज से बहिष्कृत है। हुड़कियाणी भी, आछरी और जुन जुनाली दोनों एक गहरे क्षण में भीतर उतरते हैं। एक दूसरे को छूने और सुनने लगते हैं। यहां भाषा और वर्णन कला अनुभव वस्तु के पासंग पर भी नहीं आती।

भाषा ऐसा लगता है कि इस जगह अक्षम हो गई है। इसका अहसास करा देते हैं हरिसुमन बिष्ट और यह अपने आप में बहुत बड़ी सफलता है। यह अंतिम पंक्ति को, स्वयं को कभी न भूलना यह एक ऐसी अनुभूति है जिसे सृजनशील स्तर पर साझा करना बहुत कठिन काम है। जब तक समय को, बड़ी गहराई के भीतर न जाया जाए तब तक इसको नहीं पहचाना जा सकता, नहीं पाया जा सकता। इन दोनों पात्रों ने किसी और क्षमता से नहीं केवल अपनी जीवन स्थिति और अपने अनुभव से इस सार को अपनाया है। और एक एकदम परंपरागत जीवन जीते हुए ये जो स्वयं को कभी नहीं भूलना, ये जो एक तरह का उद्घाटन है ये जो एक तरह का जीवन बोध है। ये है परंपरागत को आधुनिक में तोड़कर बदल लेता है और अनजाने ढंग से बदल देता है, बिना किसी प्रयास के बदल देता है। मैं यहां "मैला-आंचल" का उल्लेख करना चाहता हूँ, जिसमें जब

मंगला और उसका एक पात्र ये दोनों राजनीति में भाग लेते हैं। ये दोनों साथ-साथ रहते हैं। एक अहीर है और मंगला दलित है। ये दोनों साथ-साथ हैं तो इन दोनों में बातें होती हैं जात-बिरादरी के बारे में तो वो कहता है, किसी को याद नहीं कि मंगला के साथ कौन रहता था। वो कहता है-जात आप देख लो गांव में दो ही जातियां रह गई हैं एक अमीर और एक गरीब। इतने नामालूम ढंग से जातिवादी समाज, वर्गवादी समाज बदलता हुआ अपनी स्थितियों के भीतर आता है जिसमें मालूम नहीं होता कि कहीं से यह बदलाव किस तरह से आया है। किस फार्मूले से आया है। बिना किसी फार्मूले के, जीवन के अपनी गतियों के भीतर घुसा पाता है, ठीक उसी तरह से अपने को कभी नहीं भूलना, स्वयं को कभी नहीं भूलना, यह जो एक अनुभव सत्य है, वह है विशेष रूप से कथाकारों में, बहुत ज्यादा महत्व इसको मिला हुआ है, जो अपने आप आ जाता है। जहां संभव हुआ है वहां हरिसुमन बिष्ट परंपरागत को या अनुभव की सीमाओं को तोड़कर एक नए क्षेत्र में पहुंचते भी हैं। उनकी यह सार्थकता जिसके ऊपर कई लोगों ने खासकर के कमलेश्वर जी ने विचार किया कि बिना किसी किन्हीं कथा प्रयोगों की तकनीकी विशेषता के उस गहरी सच्चाई तक हरिसुमन बिष्ट की कहानी उनकी नैरेटीविटी पा लेते है यह छोटी बात नहीं है, अपने आप में नहीं तो इन बातों को कहने के लिए आप जानते हैं कि सेल्फ कंटेंट जो पात्र हैं-कहानियों और उपन्यासों को जिन्हें बहुत गहरा उपन्यास कहा जाता है, गहरी कथा कही जाती है। यही तो करते हैं, लेकिन अपने को कभी नहीं भूलना यह उनका अपना एक ऐसा अपरिभाषायी क्षेत्र हो जाता है, जहां पहुंचना, जिसको परिभाषित करना, जिसको समझना बहुत मुश्किल है। लेकिन इस उपन्यास में अपने को कभी नहीं भूलना जिसको पहचाना जा सकता है। इसे चरितार्थ होते हुए देखा जा सकता है।

यही इस उपन्यास की नैरेटीविटी की अनौपचारिकता है। इनफॉरमल ढंग से वो उपन्यास की नैरेटीविटी मुझे दिखाई पड़ती है। और इसलिए इस उपन्यास में एक दुर्लभ पठनीयता है, जो पठनीयता के नाम पर गहराई, और गहराई के नाम पर पठनीयता की उपेक्षा नहीं करती। गहराई ऐसा नहीं है कि इस उपन्यास में नहीं है। अलग-अलग पूरे उपन्यास के ढांचे को, पूरे उपन्यास को देख कर आप कहें तो ये शिकायत आप कर सकते हैं, लेकिन बीच-बीच में प्रसंगों में यह काफी कुछ मिल जाती है। एक बात जैसा कि इस उपन्यास की वस्तु है, उसमें परंपरागत है, और कहने में भी परंपरागत है। लेकिन मैं एक बात पर बल देना चाहता हूँ। उल्लेख सबने किया है लेकिन मैं उसे अंडरलाइन करना चाहता हूं कि उसी परंपरा के भीतर एक दरार है और उस दरार पर लेखक की निगाह है और

कहानी वहीं से पैदा हुई है। और सबने उल्लेख किया है कि आछरी अपने पिता द्वारा छोड़ दी जाती है। कुछ भेड़-बकरियां और एक कुत्ता छोड़ कर चल देता है। एकाएक वह 'एलिमिनेट' हो जाती है। मैं बल देना चाहता हूं कि एक बहुत मार्मिक गहरा और साहित्य बिना एलिमिनेशन के नहीं होता। होता रहा है, हमेशा यह प्रक्रिया होती रही है। लेकिन पहचाना गया, उसे आधुनिक युग में अस्तित्ववाद में और विशेषकर मार्क्स ने इस बात को पहचाना और दोनों ने एलिमिनेशन की अलग-अलग व्याख्या की है और अलग-अलग तरह से कहानी भी बनी। आछरी अपने परिवार, गांव परिवेश सबसे अलग हो जाती है। कारण था यौन-स्वच्छंदता और सामाजिक मान्यता की गंवार संस्कार-परंपरा। इन दोनों के चलते यह होता है। 'बलात्कार हुआ' कई लोगों ने कहा। मुझे उपन्यास पढ़कर ऐसा नहीं लगा कि बलात्कार हुआ। उपन्यास पढ़ते समय इस तरह से प्रकृति का, जलधाराओं का, चांदनी का, हवाओं का, वर्णन किया गया है जिससे लगता है केवल एक स्वच्छंद आनंद का क्षण था जो आ गया उन दोनों के जीवन में। सहज प्राकृतिक परिवेश में पली आछरी के लिए यौन-घटना मुझे लगती है बड़ा 'इनोसेंट एक्सपीरियेंस' था उसके लिए। यह एक इगनोरेंस है। और 'इगनोरेंस' की इतनी बड़ी सजा कि उसे अपने पूरे परिवार से, गांव से, पूरे परिवेश से काट दिया जाता है। यानी एक तरफ है एक 'लड़की' का 'इनोसेंस' और दूसरी तरफ है सामाजिक 'मान्यता की कठोरता।' और यह कहानी इसी बिंदु से पैदा हुई है, यानी अब उसके पास दो रास्ते हैं या तो वह अपने इस अकेलेपन की परिस्थिति के स्तर पर अभिशाप लेकिन सार्थकता के स्तर पर वरदान मानते हैं और तब वह एक दूसरी तरह की कहानी होती। दूसरी तरह का उपन्यास होता। निर्मल वर्मा का एक जिसमें वो शब्द उन्हीं का मैंने उदधृत किए हैं कि एलिमिनेशन जो है वह परिस्थिति के स्तर पर अभिशाप और सार्थकता के स्तर पर वरदान है। यह ऐलिमिनेशन आछरी के लिए मोर्चे खोलता है और वह एक के बाद दूसरे-तीसरे मोर्चा पर लड़ती चली जाती है और उसमें वह अपनी सार्थकता खोजती है।

इब्सन से पहले वह या मैं मार्क्स को याद करना चाहता हूं। मार्क्स ने कहा था कि पूंजी एलिनेट करती है आदमी को। लेकिन यह एक सच्चाई है। एलिमिनेशन को मार्क्स स्वीकार करते हैं लेकिन कहते हैं कि यह नपुंसक बनाता है आदमी को। इसको तोड़ने के लिए आछरी ने दूसरा रास्ता अपनाया अपने एलिमिनेशन को एक भीतरी दुनिया में जाकर वरदान की तरह नहीं ग्रहण किया। वह कई मोर्चो पर लड़ती चली जाती है। अब यहां एक अजीब असमंजस मेरे मन में है कि इस उपन्यास में कहानी विकसित होती है बहुत पुराने ढंग से, जिसका

आरंभ है और विकास है, अंत है। पुराना ढांचा है, परंपरागत है। लेकिन आछरी जिस तरह से अपनी भूमिका तलाशती है, और जैसे वह निभाती है, वह परंपरागत नहीं है। वह तलाश और निभाव नया है। मसलन हवा, पानी में जैसे लोकतंत्र, पंचायती राज, स्त्री पुरूष की बराबरी की धारणा, यह नई जलवायु की तरह से जब सुरक्षित कर दी जाती है सीट किसी महिला के लिए पंचायती तो वो एक नई जलवायु की तरह से यह बात उसमें उभरती है। इस सहजता को वह उसी तरह से स्वीकार करती है, वह परंपरा से नौता की जमीन पर पांव रखती है और उसमें भी कोई तोड़ नहीं लगता बल्कि वह परिवर्तन की एक निरंतरता के भीतर से, उभरता से जान पड़ता है। कमलेश्वर जी ने उल्लेख किया था कि विकास हो रहा है। विकास का एक अनुभव विकास का एक बादल है। हो रहा है, यह दिखाई पढ़ता है हमें। विकास का अगर मॉडल है तो कहानी के विकास का भी मॉडल होना चाहिए। अगर समाज में कोई चीज विकसित हो रही है तो साहित्य में भी उसका कोई न कोई ढांचा होगा और मेरे ख्याल से संभवत: जैसे विकास एक बड़ा परिभाषिक शब्द बन गया है तो 'इकनॉमी' से लेकर बहुत चीज़ों तक फैला हुआ है तो विकास का मैं थोड़ा महत्व देकर के बताना चाहता हूँ कि भले ही कम, लेकिन विकास का एक ढांचा हमारे समाज में उभरने लगा है और यह उपन्यास शायद उस ढांचे को भी स्वीकार करता है।

नामवर होने का अर्थः आलोचना का वटवृक्ष

स्वप्निल श्रीवास्तव

नामवर सिंह हिंदी के ऐसे आलोचक हैं, जिन्होंने आलोचना की पद्धति और भाषा को बदला है। उनकी आलोचना वाद-विवाद संवाद से परिपूर्ण है, वह आलोचना क्या जो विवादास्पद न हो, पुरानी लीक पर चलती हुई आलोचना का कोई महत्व नहीं है, समर्थ आलोचक वह है जो आलोचना के प्रतिमान स्थापित करता है, और आलोचना की प्रचलित रूढि को तोड़ता है, आलोचना एक तरह से अन्वेषण भी है, इसमें संदेह नहीं कि नामवर सिंह ने आलोचना की परम्परागत भाषा और आशय को बदला है, इसलिए आजादी के बाद यदि आलोचना के विकास और सांस्कृतिक परिदृश्य को जानना हो या वैचारिक जद्दोजहद की जानकारी पानी हो तो नामवर सिंह विश्वसनीय आलोचक साबित होंगे, उनकी आलोचना अपने समय के यथार्थ और चुनौतियों से मुठभेड़ करती है। डॉ. रामविलास शर्मा से उनकी सहमति और असहमति हिंदी आलोचना का विचारत्तेजक पक्ष है। उन्होंने आलोचना को पठनीय और रोचक बनाया है और शास्त्रीयता से विमुक्त किया है, इसलिए उनकी आलोचना गल्प का सुख देती है। आलोचना के बारे में प्रायः कहा जाता है कि वह विश्वविद्यालय में पढ़ाई जाती है और वही उसके पाठक हैं लेकिन इसके बरक्स नामवर सिंह ने नये पाठक पैदा किये है।

नामवर सिंह पारस पत्थर हैं जिस लोहे को छू दे वह सोना हो जाता है। किसी के बारे में उनका कुछ कहना मायने रखता है वे जिसका भी नाम ले लें वह रातों-रात मशहूर हो जाता है, अतः उनके आसपास लोग बने रहते हैं, और उम्मीद करते हैं कि उनके मुखारविंद से उनका नाम उच्चारित हो जाए और वे स्थापित कवि कथाकार हो जाएं।

आलोचना के लिए सहमति से ज्यादा असहमति आवश्यक है, दूसरे अर्थो में इसे वाद-विवाद संवाद कहा जा सकता है जो नामवर सिंह की आलोचना का मूल तत्व है।

भारत यायावर की पुस्तक 'नामवर होने का अर्थ' कई मायनों में भिन्न पुस्तक है। यह पुस्तक नामवर सिंह के साहित्य और जीवन पर नये ढंग से विचार करती है और उनके जीवन के दुर्लभ संस्मरणों से हमारा परिचय कराती है। इस पुस्तक को पढ़ते हुये उपन्यास पढ़ने जैसा सुख मिलता है, हिंदी में बहुत सारी जीवनियाँ और आलोचनाएं लिखी गयी है, लेकिन वे इतनी बोझिल और

अपठनीय होती है कि किताब के साथ हम बहुत दूर नहीं जा सकते, लेकिन यह पुस्तक अपवाद है इसका अनुभव इसे पढ़ने के साथ ही मिल सकता है। पुस्तक के लेखक भारत यायावर सुपरिचित कवि हैं और हिंदी की दुनियाँ में 'खोजी राम' के नाम से जाने जाते हैं। इसी के साथ-साथ वे दक्ष सम्पादक भी हैं। विपक्ष के नाम से महत्वपूर्ण पत्रिका निकालते हैं। उन्होंने विपक्ष सीरीज में पहली बार स्वाप्निल श्रीवास्तव, अनिल जनविजय राजा खुगशाल को प्रस्तुत किया था। फणीश्वरनाथ रेणु और महावीर प्रसाद द्विवेदी की रचनाओं को खोज-खोज कर इकट्ठा किया और उनकी रचनावली का सम्पादन किया। सच्चे अर्थो में वे हिंदी दुनिया के यायावर हैं।

नामवर होने का अर्थ, पुस्तक छोटे-मोटे छत्तीस अध्यायों में बंटी हुई है, जिसमें नामवर सिंह के साहित्य और जीवन के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। नामवर सिहं ने कविता और निबंध लेखन से अपने साहित्यिक जीवन की शुरूआत की, कवि 'पुनीत' किस तरह नामवर सिंह नामक वटवृक्ष बनता है, इस पुस्तक में इसकी बानगी दी गयी है। भारत यायावर ने नामवर सिंह के काव्य पक्ष को महत्व के साथ प्रस्तुत किया है। वस्तुत: कविता में ही नहीं आलोचना में भी संवेदना की जरूरत है, इससे आलोचना के भाषा की दक्षता कम होती है, उनकी शुरूआती कविताओं को पढ़ते हुए हम विचारों के ताप को महसूस करते हैं। अमोले की बढ़त यह बताती है कि इसके अंदर वटवृक्ष छिपा हुआ है। इस पुस्तक में नामवर सिंह के जीवन और साहित्य के कई मोड़ और पड़ाव है, उन लोगों और परिस्थितियों का उल्लेख है जिसमें नामवर सिंह की निर्मिति हुई है। भारत का मानना है कि नामवर सिंह का बीज शब्द संघर्ष है, इसमें कोई संदेह नहीं संघर्ष संघर्ष के बिना जीवन और साहित्य की कल्पना नहीं की जा सकती, बेहतर साहित्य सुविधाभोगी लेखक नहीं लिख सकता, संघर्ष हमारे शब्द को धार देता है। भारत यायावर का यह कथन कि छठे दशक की नयी कविता और नयी कहानी पर नामवर सिंह के बिना कोई बात नहीं हो सकती। उनकी पुस्तक 'छायावाद इतिहास और आलोचना, 'कहानी नई कहानी' एवं 'कविता के नए प्रतिमान' का महत्व असंदिग्ध है। आलोचना के पाठक जानते हैं कि इन पुस्तकों के बिना हिंदी साहित्य के इतिहास की कल्पना नहीं की जा सकती। आजादी के बाद की आलोचना के बारे में यदि किसी को प्रमाणिक जानकारी चाहिये तो नामवर सिंह उसके लिए बेहतर सहयात्री हो सकते हैं।

नामवर सिंह ने एक अलग तरह की आलोचनात्मक दृष्टि विकसित की है, यह दृष्टि उन्होंने अपने जीवन संघर्ष से अर्जित किया है। यही कारण है उन्हें

मुक्तिबोध के आत्मसंघर्ष की रचनात्मक जीवन में भूमिका पसंद आती है। साहित्य में विचार जरूरी है जिसके बारे में मुक्तिबोध का बहुकथित वाक्य है कि 'पार्टनर आपकी पालीटिक्स क्या है? यह कोई व्यंग्योक्ति नहीं, न सरल वाक्य है, इसके निहितार्थ व्यापक हैं इसलिए लेखक हो या आलोचक उसका पक्ष जानना आवश्यक है। नामवर सिंह ने मार्क्सवादी आलोचना की जरूरत की तरफ लोगों का ध्यान आकर्षित किया। जब हम विचार की बात करते है तो हम जनता को भूल नहीं सकते। मार्क्सवादी आलोचना जनसापेक्ष है, वह जनता के पक्ष में खड़ी होती है।

भारत का यह कहना सही है कि नामवर सिंह लेखन को संवाद मानते हैं। किसी भी विधा की पहली शर्त यह है कि संप्रेषणीय हो, हम जो कुछ कहना चाहते हैं, वह लोगों तक पहुंचे। कविता के पाठकों की तरह आलोचना के पाठक, बहुत कम है, यदि वह पाठकों तक नहीं पहुंचती तो यह उसकी विफलता है। नामवर सिंह की आलोचना पढ़ते समय हमें गहरी आश्वस्ति मिलती है।

नामवर सिंह के जीवन के महत्वपूर्ण अध्याय उनकी बनारस में आमद है, जिस पर भारत ने विस्तार से बताया है, हर आदमी के जीवन में एक शहर होता है जिसके नाम पर दिल धड़कता है, इस शहर ने नामवर सिंह को क्रियेट (creat) किया है, उन्हें तराशा है साहित्य के संस्कार दिये हैं, बनारस एक ऐसा शहर है जिसमें आप प्रवेश करें तो वह बजने लगता है, यह साहित्यकारों, संगीतज्ञों और औघड़ो की नगरी है, बनारस एक जीवंत शहर है इसमें पशु को मनुष्य बना देने की क्षमता है। यह नगर शास्त्रार्थ के लिए जाना जाता है। शास्त्रार्थ का अनुवाद सरल भाषा में करें तो वह वाद-विवाद संवाद होगा और इसकी उत्पत्ति नामवर सिंह की आलोचना से होती हैं। बनारस प्रेमचंद प्रसाद, भारतेन्दु, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी की कर्मभूमि रही है। इस शहर के कण-कण में मस्ती है, फक्क्ड़पन है। इसी शहर में नामवर सिंह की मुलाकात त्रिलोचन से हुई, उदय प्रताप कॉलेज में पढ़ते समय उन्होंने अज्ञेय को व्याख्यान के लिए आमंत्रित किया था, इसका दिलचस्प उल्लेख पुस्तक में है।

अक्षर ज्ञान के साथ-साथ गंगा स्नान इस पुस्तक का महत्वपूर्ण अध्याय है जिसे अत्यंत मनोयोग से भारत यायावर ने लिखा है। इस अध्याय में हमें नामवर सिंह के कवि स्वरूप का पता चलता है 'विद्रोही जय प्रकाश' कविता उनकी काव्य चेतना से हमारा परिचय कराती है, इसके अतिरिक्त 'आदित्य पुरूष गांधी' कविता लिखी। इसके कुछ अंश देखें:-

इस भारत की ही मिट्टी है
जिसने ऐसे आदित्य जने
नूतन प्रकाश के लिए एक हो
नवादित्य हम स्वयं बने

स्वाधीन हिंद के विक्रमाब्द का
उगा रवि प्रभापूर्व
इसलिए नव्य रवि रचना में
अर्पित कवि का यह प्रथम सूर्य

इसी अध्याय में भारत ने नामवर सिंह के गद्य की बानगी प्रस्तुत की है, जैसा हम जानते हैं कि नामवर सिंह ने अपने रचनात्मक जीवन की शुरूआत कविता और निबंध से किया है, बाद में उन्होंने आलोचना का क्षेत्र चुना, उनके गद्य की अदभुत झलक 'दार्जिलिंग की एक 'झलक एवं संस्कृति का तात्पर्य' में दिखाई देती हैं, एक उदाहरण देखें-

संस्कृति का तात्पर्य से मेरा अभिप्राय है सीमा निर्धारण, व्याख्या नहीं, व्याख्यायें तो बहुत हो चुकी हैं, यहाँ तक कि संस्कृति का अर्थक्षेत्र असीम हो चला है, इसके सहज स्वच्छंद प्रयोग से अब तो ऐसा हो गया है कि किसी से संस्कृति का अर्थ पूछने में भी असंस्कृत होने का भय है।

तुलसीदास पर पहला उनका आलोचनात्मक लेख 1948 में प्रकाशित हुआ, जिसे पढ़कर शमशेर बहादुर सिंह ने भैरव प्रसाद गुप्त से कहा था कि हिंदी आलोचना के क्षेत्र में एक नयी प्रतिभा ने पदार्पण किया है।

आलोचना के पथ पर पहला कदम अध्याय में उनके निबंधों की चर्चा की गयी है। इस अध्याय में हम निरंतर विकासमान आलोचक के स्फुलिंग देखते हैं। इस अध्याय से हमें पता चलता है कि किस तरह नामवर सिंह आलोचना के नये पथ पर चलने की तैयारी कर रहे हैं, परम्परागत जटिल आलोचना के बरक्स वे ऐसी आलोचना लिख रहे थे जिसकी व्याप्ति जन और समाज तक हो।

इस पुस्तक में 'फक्कड़ बाबा के चेले हुए' अध्याय दिलचस्प है। पं. हजारी प्रसाद द्विवेदी से नामवर सिंह की मुलाकात उनके जीवन की महत्वपूर्ण घटना है, जिसका उनके जीवन और साहित्य पर गहरा प्रभाव पड़ा। हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने जीवन का समय गुरूदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर के सानिध्य में गुजारा था। उन्होंने कबीर पर नये तरह से विचार किया। हजारी प्रसाद द्विवेदी का प्रभामंडल अद्वितीय था। हजारी प्रसाद द्विवेदी नामवर सिंह के लिए द्रोण थे और नामवर सिंह अर्जुन की तरह धनुर्धर थे। नामवर सिंह ने हजारी प्रसाद द्विवेदी की

छाया में बहुत कुछ सीखा, लेकिन आलोचना का विकास अपनी तरह से किया। उन्होंने अपनी अलग राह बनायी।

नामवर सिंह ने इन्हीं फक्कड़ बाबा की छत्रछाया में अपना लघु शोध प्रबंध पूरा किया। नामवर सिंह ने 1951 में प्रकाशित दूसरे सप्तक के साथ कवियों पर सम्यक विचार किया। उन्होंने कवियों की विशेषताओं की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया। सप्तक के कवियों के बारे में उनके दृष्टिकोण की व्यापक चर्चा हुई। आगे चलकर आलोचना के अंक-4 में 'हिंदी कविता के दस वर्ष' नामक लेख बहुत चर्चित हुआ और इस लेख के जरिये आलोचना क्षेत्र में उनकी धाक जम गयी। इस लेख में उनकी आलोचना पद्धति के बारे में पाठकों को जानकारी मिली। आलोचना के साथ वे अपने कवि रूप में भी सक्रिय थे। 1957 के आसपास विष्णुचन्द्र शर्मा की पत्रिका कवि में नामवर सिंह को विशिष्ट कवि के रूप में प्रकाशित किया गया था।

सन् 1955 में उनकी कविता ज्ञानोदय में, शमशेर बहादुर सिंह के साथ प्रकाशित हुई थी, इस तरह नामवर सिंह आलोचना और कविता के क्षेत्र में साथ-साथ सक्रिय थे। ज्ञानोदय की कविता का उद्धरण प्रस्तुत करने का लोभ संवरण नहीं कर पा रहा हूँ। कविता देखें-

नथ के सूनेपन में
हैं टूट रहे बरसे बादर
जाने क्यों टूट रहा है तन
वन में चिड़ियों के चलने से
हैं टूट रहे पत्ते चरमर

जाने क्यों टूट रहा है मन
घर के बरतन की खन-खन में
हैं टूट रहे दुपहर के स्वर
जाने कैसा लगता जीवन

इस कविता में वन में चिड़ियों के चलने से पत्तियों का चरमर टूटना अदभुत विम्ब है। नामवर सिंह के आलोचना कर्म पर खूब लिखा गया है, लेकिन भारत यायावर ने उनके कवि पक्ष पर काफी ध्यान दिया है और उनकी दुर्लभ कविताओं को हमारे सामने लाने का उपक्रम किया है। कवि से आलोचक बनने की यात्रा में कौन-कौन से पड़ाव आये इस पर भारत ने विहंगम दृष्टि डाली है।

जैसा पूर्व में लिखा जा चुका है कि नयी कविता और नयी कहानी नामवर सिंह का प्रिय विषय है। जुलाई 57 के 'कवि' पत्रिका में नई कविता: एक

संभाव्य भूमिका में अज्ञेय की कविता 'रौंदें हुए इन्द्रधनुष' पर टिप्पणी की है। मुक्तिबोध नामवर सिंह के पसंद के कवि है। कवि पत्रिका के अप्रैल 57 अंक में प्रकाशित उनकी टिप्पणी, हमें यह बताती है कि उन्होंने मुक्तिबोध की काव्य प्रतिभा की पहचान पहले ही कर ली थी, इस लेख में उन्होंने लिखा है:-

'मुक्तिबोध उन कवियों में से हैं जिन्होंने सफलता का यह सरल पथ छोड़ कर इस युग की उलझने में जान बूझकर अपने को डाला है। उन्होंने एक मुश्किल काम अपने हाथ में लिया है। उनकी कविताओं का केन्द्रीय विषय है, आज के व्यक्ति का अर्न्तद्वंद... इस तरह मुक्तिबोध आत्म विश्लेषण के माध्यम से इस युग के सामाजिक संघर्ष को समझना चाहते हैं।' मुक्तिबोध के बारे में नामवर सिंह की स्थापनायें अब भी प्रासंगिक हैं, हालांकि अन्य कवियों की तुलना में मुक्तिबोध पर जो विमर्श होना चाहिये वह नहीं हो सका।

भारत यायावर ने नामवर सिंह की रचनात्मक यात्रा के साथ जीवन यात्रा के अनेक पड़ावों पर प्रकाश डाला है। नामवर सिंह का आलोचनात्मक कार्य भले ही सरल हो, लेकिन उनका जीवन आसान नहीं था। उनके जीवन में दु:ख और संघर्ष साथ-साथ चलते रहे, लेकिन वे दक्ष नट की तरह जीवन रज्जु पर चलते रहे। उन्होंने संघर्ष को जीवन ऊर्जा का केन्द्र बना लिया था। इस बीच उनका अध्ययन अध्यापन और विस्थापन चलता रहा। आलोचना के क्षेत्र में जो स्थापनाएं की, और सूत्र दिये उनका अपना महत्व है। 'इलाहाबाद में दस दिन' अध्याय में वे इलाहाबाद के लेखक निराला, महादेवी वर्मा, कमलेश्वर, अमरकान्त विजय देव नारायण साही, मार्कन्डेय के संपर्क में आते हैं और समकालीन विमर्श में शामिल होते हैं, धीरे-धीरे उनका साहित्यिक परिवार बढ़ता रहता है।

इस पुस्तक में 'नामवर नवल और अग्नि-स्नान' प्रमुख अध्याय है, जिसे भारत ने बड़े मनोयोग से लिखा है। इस अध्याय में नामवर सिंह और नन्द किशोर नवल के संबंधों की चर्चा की गयी है। यह अवगत कराया गया है कि किस तरह नवल ने नामवर सिंह की आलोचना की परम्परा को आगे बढ़ाया। नन्द किशोर नवल ने सिर्फ ध्वजभंग और धरातल जैसी पत्रिकायें निकालीं, धरातल के माध्यम से नवल ने कवियों की नयी पीढ़ी को सामने लाने का काम किया। धरातल में विशेष कवि के रूप में अरूण कमल, राजेश जोशी, उदय प्रकाश, स्वप्निल श्रीवास्तव एवं श्याम कश्यप को प्रस्तुत किया, जो हमारे समय के महत्वपूर्ण कवि हैं। नन्द किशोर नवल ने 27-28 दिसम्बर 1970 में अखिल भारतीय स्तर का युवा लेखक सम्मेलन आयोजित किया, जिसमें हिंदी के तमाम लेखक एवं कवियों ने अपनी उपस्थिति दर्ज करायी थी, यह एक ऐतिहासिक

सम्मेलन था। इस सम्मेलन में हिंदी कविता और कहानी को लेकर महत्वपूर्ण सवाल उठाये गये थे और उस पर विचारोत्तेजक बहसें हुई थी। इस सम्मेलन में नामवर सिंह की उल्लेखनीय भूमिका थी। इस सम्मेलन में युवा लेखकों की रणनीति, कविता, सही भाषा की तलाश, कहानी: समकालीन आदमी को परिभाषित करने का एकमात्र जरिया एवं आलोचना क्यों? जैसे विषयों पर गोष्ठी आयोजित की गयी थी। इस गोष्ठी में ज्ञानरंजन, रवीन्द्र कालिया, दूधनाथ सिंह अशोक अग्रवाल, जितेन्द्र भाटिया, सुदर्शन नारंग, प्रभात मित्तल, देवेन्द्र कुमार एवं वेणुगोपाल जैसे रचनाकार उपस्थित थे।

नंद किशोर नवल हिंदी कवियों के प्रिय आलोचक हैं। यदि हिंदी कविता के क्रमिक विकास को समझना है तो नंद किशोर नवल बेहतर आलोचक साबित होते हैं, उन्होंने कवियों की एक पीढ़ी तैयार की है। इस अध्याय में नामवर सिंह एवं नंद किशोर नवल के बीच हुए पत्र व्यवहार का प्रकाशन किया गया है। नामवर सिंह ने पटना में प्रेमचंद पर तीन व्याख्यान दिये, जिसका आयोजन नंद किशोर नवल ने किया। नामवर सिंह ने कहा है कि 'लेखक अपनी सामाजिक स्थिति से ही बनता है, यही चीज उसकी जीवन दृष्टि को डालती है। प्रेमचंद की जीवन दृष्टि एक खाते पीते साधारण किसान की है न कि मजदूर की, न नौकरीपेशा मध्यवर्गीय व्यक्ति की, लेकिन उनके जीवन की परिस्थितियाँ उन्हें खेतिहर मजदूर की ओर ले जा रही थीं। उनका यथार्थवाद सौन्दर्यशास्त्र में नहीं किसानों के जीवन से प्राप्त है। नामवर सिंह ने प्रेमचंद को नये तरह से समझने की कोशिश की।

नामवर सिंह और नंद किशोर नवल के संबंध धीरे-धीरे प्रगाढ़ हो रहे थे, इसकी परिणति आलोचना के सह-सम्पादक के रूप में हुई, उन्होंने आलोचना के अंक 54-55 से अंक 76 तक आलोचना का सम्पादन किया। यह 1980 का समय था जब समकालीन कविता में मूलभूत परिवर्तन हो रहे थे, कविता की भाषा और कथ्य बदल रहे थे, नये कवियों के साथ नागार्जुन त्रिलोचन शमशेर एवं केदारनाथ अग्रवाल जैसे वरिष्ठ कवि सक्रिय हो रहे थे। वरिष्ठ एवं नये युवा कवियों के बीच रघुवीर सहाय एवं केदारनाथ सिंह की पीढ़ी थी। यह कविता के लिए उर्वर समय था, और नंद किशोर नवल ने इन कवियों का सम्यक मूल्यांकन किया। आलोचना के अंक इस तथ्य के साक्ष्य हैं, यह संयोग ही है कि नंद किशोर नवल ने अपने रचनात्मक जीवन की शुरूआत कविता से की थी जबकि बाद में वे आलोचना के पथ पर अग्रसर हुए।

नामवर सिंह आलोचना एवं जीवन के पथ पर साथ-साथ चलते रहे और

जीवन की अनेक चुनौतियों का सामना धैर्य से किया। यह धैर्य उनकी आलोचना में दिखाई देता है। बनारस, सागर, जोधपुर होते हुए वे जे.एन.यू. में अंत तक टिके रहे। उन्होंने जे.एन.यू. में पड़रौना से केदारनाथ सिंह एवं जोधपुर से मैनेजर पाण्डेय को बुलाया। भाषा और साहित्य में नये कोर्स प्रस्तावित किये। यदि जे.एन.यू. अपनी वामपंथी छवि के नाते जाना जाता है तो उसकी भूमिका में नामवर सिंह हैं। जे.एन.यू. धीरे-धीरे मार्क्सवाद की पाठशाला बनी। इस संस्थान ने लेखक, कवियों एवं बुद्धिजीवियों की एक जमात तैयार की है। इसके बारे में विस्तार से जानना हो तो राजकमल प्रकाशन से प्रकाशित पुस्तक 'जे.एन.यू. में नामवर सिंह' पढ़ी जा सकती है। अब वे दिल्ली के नागरिक हैं। दिल्ली उनका हवाई अड्डा है, जहां से देश के विभिन्न शहरों में व्याख्यान देने के लिए उड़ान भरते हैं, हिंदी संसार उनके व्याख्यानों को बड़े ध्यान से सुनता है। वे व्याख्यान के लिए विधिवत तैयारी करते हैं तथ्य इक्ट्ठा करते हैं और अपने व्याख्यानों के जरिये श्रोताओं से संवाद करते हैं। बहुत लोगों का लिखा हुआ नहीं छपता है, लेकिन नामवर सिंह का बोला हुआ छपता है। वे मार्क्सवादी आलोचक के साथ विचारक भी हैं। उनके व्याख्यानों में इस तथ्य को देखा जा सकता है। बड़े लेखकों के साथ बड़ी विडम्बनायें भी होती हैं। नामवर सिंह कीर्ति के शिखर पहुंच चुके हैं, वे स्टार आलोचक हैं, लेकिन दाम्पत्य उनके जीवन की दुखती रग है। काशीनाथ सिंह ने लिखा है, जिस घर को 1953 में बसना था, वह जाकर 85 में बसा। दुभाषिया थी बेटी गीता। भैय्या के सारे दुखों, दर्दों, चिताओं और एकाकीपन का इलाज गीता थी। काशीनाथ सिंह की पुस्तक 'घर का जोगी जोगड़ा' किताब पाठकों को जरूर पढ़नी चाहिए। इसी समय के आसपास उनकी विख्यात पुस्तक 'दूसरी परंपरा की खोज' प्रकाशित हुई, जिस पर बहुत वाद-विवाद हुआ, नामवर सिंह को समझने, न समझने का दौर इसी दौरान चला।

कवि 'धूमिल के मास्टर साहब' अध्याय में धूमिल की काव्य प्रतिभा का विश्लेषण है। धूमिल को महत्व दिलाने में नामवर सिंह की महती भूमिका है। हिंदी कविता में धूमिल का आगमन महत्वपूर्ण है। धूमिल की कविता की भाषा और व्याकरण को बदलने का कार्य किया। उन्होंने आलोचना में धूमिल की पटकथा प्रकाशित की थी। आलोचना-33 का प्रकाशन धूमिल स्मृति अंक के रूप में हुआ। नामवर सिंह के नाते धूमिल को साहित्य अकादेमी पुरस्कार भी मिला।

नामवर सिंह के जीवनातिहास में यदि काशीनाथ सिंह का उल्लेख न किया जाय, तो यह व्याख्यान अधूरा रहेगा। काशीनाथ सिंह उनके अनुज नहीं सखा हैं। वे राम लक्ष्मण की जोड़ी हैं। जीवन के वनवास में काशीनाथ सिंह अपने

अग्रज के लिए एक पांव पर खड़े रहे, भ्रात प्रेम का यह दुर्लभ उदाहरण है। नामवर सिंह के शीर्ष पर पहुंचने में काशीनाथ सिंह का कम योगदान नहीं है। उन्होंने अपने अग्रज के जीवन को निरापद करने के लिए, हर तरह का प्रयत्न किया, ताकि वे लेखन कर अपने अभीष्ट को प्राप्त कर सकें।

भारत यायावर सही अर्थो में खोजी लेखक हैं, वे अपने यायावर नाम को सार्थक करते हैं। नामवर सिंह पर लिखी इस पुस्तक के दुर्लभ प्रसंगों को पढ़कर दर्शक चौंक सकते हैं। स्वयं आलोचक नामवर सिंह कई संस्मरणों पर हैरान हो सकते हैं, जीवन इतने विस्मय और बिडम्बनाओं से भरा हुआ है कि कभी-कभी हम स्मृतिविहीन भी हो जाते हैं। भारत ने आलोचक के जीवन की तमाम स्मृतियों को पुनर्जीवित किया है। यह पुस्तक अनेक वर्षो के शोध एवं श्रम का परिणाम है।

नामवर सिंह के आख्यानों, व्याख्यानों की पुस्तकें तो प्रकाशित हो रही हैं, लेकिन उनका कुछ लिखा हुआ सामने नहीं आ रहा है। उनके प्रशंसक एवं समीप रहने वाले लोगों का यह दायित्व है कि वे इस काम का बीड़ा उठाएं, नामवर सिंह के पास बहुत मूल्यवान चीजें हैं, जो हमारे सामने आनी चाहिए। नामवर सिंह के पुत्र विजय प्रकाश सिंह का हिंदी की पत्रिका 'साखी' के अंक-20 में 'पढ़ते फिरेंगे गलियों में इन रेख्तों को लोग' की कुछ पंक्तियों का उद्धरण देकर मैं इस लेख को समाप्त कर रहा हूँ।

'बड़े आदमियों के दो तरह के पुत्र होते है- वे जो वास्तव में हैं पर कहलाते नहीं, पर वे जो कहलाते हैं पर हैं नहीं। होने से ज्यादा कहलाना लाभदायक है। अगर समझने का दावा करने वाले और 'कहलवाने' वाले पुत्र उनकी घोषित पुस्तकों का काम लग कर पूरा करवा देते तो शायद पिता जी भी अपने अर्न्तमन की बात कह पाते, यह हिंदी जगत के लिए उनका बहुत बड़ा अवदान होता।'

नामवर होने का अर्थ (व्यक्तित्व एवं कृतित्व)
भारत यायावर
किताबघर प्रकाशन
अंसारी रोड, दरियागंज,
नई दिल्ली- 110002
मूल्य: पेपरबैक 225 रूपये

लेखकों के पते :

राकेश कुमार सिंह: जयप्रकाश नगर, (कतीरा) आरा-802301, भोजपुर, (बिहार)
मो. नं. 09431852844

रघुवंशमणि: 365, इस्माइलगंज, अमानीगंज, फैजाबाद- 224001
मो. 09452850745

श्रीभगवान सिंह: 205, श्याम अपार्टमेंट, बड़ी खंजरपुर, भागलपुर- 812001
मो. नं. 09801055395

कुमार नरेन्द्र सिंह: 459, द्वितीय तल, सेक्टर-5, वैशाली, गाजियाबाद-10 (उ.प्र.)
मो. नं. 09810261033

ऋषिकेश राय: उपनिदेशक राजभाषा (टी बोर्ड) 14 बीटीएम सरणि (ब्रेबोर्नरोड) कोलकाता- 700001
मो. नं. 09903700542

उमाकांत: द्वारा अवंतिका शुक्ला, सहायक प्रोफेसर, महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)

ममता कालिया: ए-73, लाजपत नगर-1, नई दिल्ली-110024
मो.नं. 09212741322

हृदयेश: 136/2, बक्सरियां, शाहजहांपुर- 282001 (उ.प्र.) मो. नं. 09451807119

सुधीर सक्सेना: 43ए, अंसल प्रधान इन्क्लेव, ई-8 अरेरा कॉलोनी,
भोपाल- 462016 (म.प्र.) मो. नं. 09425022404

सुधीर विद्यार्थी: 6, पवन विहार फेज-5 विस्तार, पो: रूहेलखंड विश्वविद्यालय, बरेली- 243006 (उ.प्र.)
मो. नं. 09837259693

प्रगट सिंह: 16, शक्ति आवास, नजदीक पुराना आर.टी.ओ., सामने सीमा सुरक्षा बल, पुरानी आबादी, श्रीगंगानगर (राजस्थान)- 335001 मो. नं. 08561040225

ओम भारती: इलाहाबाद बैंक, मंडलीय कार्यालय, गौतम नगर, भोपाल- 462023 (म.प्र.)
मो. नं. 09425678579

उमाशंकर चौधरी: द्वारा ज्योति चावला, स्कूल ऑफ ट्रांसलेशन स्टडीज एण्ड ट्रेनिंग, जी ब्लॉक, अकादमिक काम्पलेक्स, इग्नू मैदानगढ़ी, दिल्ली-110068
मो. नं. 09810229111

संजीव: अतिथि लेखक**,** महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा (महाराष्ट्र)
मो. नं. 09960082612

विजय मोहन शर्मा: सी-358, विकास पुरी, नई दिल्ली- 110018
मो. नं. 09810018167

उमेश चतुर्वेदी: द्वारा जयप्रकाश, द्वितीय तल, एफ-23ए, निकट शिव मंदिर, कटवरिया सराय,
नई दिल्ली- 110016 मो. नं. 09899870697

भारत यायावर: यशवंत नगर, मार्खम कॉलेज के निकट, पो- हजारीबाग- 825310 (झारखण्ड)
मो. नं. 09835312665

नित्यानंद तिवारी: सी-1, न्यू मुल्तान नगर, नई दिल्ली-110056

स्वप्निल श्रीवास्तव: 510, अवधपुरी कॉलोनी, अमानीगंज, फैजाबाद- 224001 (उ.प्र.)
मो. नं. 09415332326